वर्ष 4, अंक 3
जुलाई-सितम्बर 2024

RNI पंजीकरण संख्या - UPHIN/2021/89341
सहयोग राशि : ₹ 60.00

आंबेडकरवादी साहित्य

आंबेडकर-दर्शन पर आधारित त्रैमासिक हिंदी साहित्यिक पत्रिका

हिन्दी साहित्य में विविध विमर्श

'आंबेडकरवादी साहित्य' बाबा साहेब डॉ. भीमराव आंबेडकर की मानवतावादी विचारधारा के प्रचार-प्रसार हेतु समर्पित है। डॉ. आंबेडकर की विचारधारा का स्वरुप अत्यंत व्यापक है, जिसमें तथागत बुद्ध, संत कबीर, संत रविदास, संत गाडगे, नारायण गुरु, पेरियार रामास्वामी, ज्योतिराव फुले आदि महापुरुषों के दर्शन का समावेश है। अतः उक्त बात को ध्यान में रखते हुए आंबेडकरवादी साहित्य का घोषणा-पत्र तैयार किया गया है, जो अग्रलिखित है।

आंबेडकरवादी साहित्य का घोषणा-पत्र

'आंबेडकरवादी साहित्य' से संबंधित स्मरणीय बिंदु निम्नलिखित हैं -

1. आंबेडकरवादी साहित्य ' आंबेडकरवाद' का पोषक है। 'आंबेडकरवाद का अर्थ है- आंबेडकर का कथन यानी आंबेडकर-दर्शन। आंबेडकर-दर्शन डॉ0 आंबेडकर की विचारधारा का समग्र रुप है, जिसमें बुद्ध-वाणी, रविदास-वाणी आदि का भी समावेश है।
2. अनीश्वरवाद, अनात्मवाद, दुखवाद, प्रतीत्य-समुत्पाद, समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व, न्याय, प्रज्ञा, करुणा, शील, मैत्री आदि सभी सिद्धांत एवं मानवीय मूल्य आंबेडकर-दर्शन के अंग हैं। अतः इन सभी का आंबेडकरवादी साहित्य से घनिष्ठ संबंध है।
3. आंबेडकरवादी साहित्य सामाजिक, शैक्षिक, राष्ट्रीय एवं वैज्ञानिक चेतना का प्रेरक है।
4. आंबेडकरवादी साहित्य समाज और संस्कृति से संबंधित तथ्यपूर्ण एवं प्रामाणिक बातों तथा घटनाओं के वर्णन हेतु प्रतिबद्ध है।
5. आंबेडकरवादी साहित्य तथागत बुद्ध की प्रेरक वाणी ' बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, लोकानुकंपाय' पर आधारित है। 'मूलनिवासी' अथवा 'पंद्रह-पचासी' की अवधारणा से इसका कोई संबंध नहीं है।
6. आंबेडकरवादी साहित्य में हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के सम्यक साहित्य को सम्मिलित किया जा सकता है, चाहे उसका रचनाकार किसी भी वर्ग, किसी भी जाति, किसी भी धर्म का हो।
7. आंबेडकरवादी साहित्य भारतीय संविधान में वर्णित सम्यक प्रावधानों के अनुरुप रचा जाने वाला साहित्य है।
8. आंबेडकरवादी साहित्य किसी धर्म अथवा दर्शन की निंदा नहीं करता है, बल्कि आवश्यकता पड़ने पर उनका सम्यक विवेचन करता है।
9. आंबेडकरवादी साहित्य में तथागत बुद्ध, संत कबीर, संत रविदास, संत गाडगे, नारायण गुरु, पेरियार रामास्वामी, ज्योतिराव फुले एवं डॉ. आंबेडकर आदि सत्यशोधक महापुरुषों की सम्यक वाणी का अंतर्भाव है।
10. आंबेडकरवादी साहित्य आंबेडकरवादी चेतना के साहित्यकारों, शिक्षकों, समाजसेवकों एवं संस्कृति के संरक्षकों का प्रशस्ति-पत्र है।

PEER-REVIEWED (REFEREED) JOURNAL

RNI पंजीकरण संख्या - UPHIN/2021/89341

आंबेडकरवादी साहित्य

आंबेडकर-दर्शन पर आधारित त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका

आरंभ वर्ष : अक्टूबर-दिसम्बर 2021 ❖ आवृत्ति : त्रैमासिक ❖ विषय : साहित्य ❖ भाषा : हिन्दी

वर्ष - 4, अंक - 3, जुलाई-सितम्बर 2024

संपादक -

देवचंद्र भारती 'प्रखर'

मो.- 9454199538
ambedkarvadisahitya@gmail.com

संपादक मंडल-

डॉ0 दत्तात्रय मुरुमकर
प्राध्यापक हिन्दी विभाग, मुंबई विश्वविद्यालय
कलिना, सांताक्रूज (पूर्व), मुंबई-400098
dmurumkar.hindi@mu.ac.in

डॉ0 प्रमोद रंजन
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, असम विश्वविद्यालय
दिफू कैंपस, दिफू, असम 782462
pramod.ranjan@aus.ac.in

डॉ0 गाजुला राजू
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश 211002
raju.g@allduniv.ac.in

डॉ0 जनार्दन
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश 211002
janardan@allduniv.ac.in

डॉ0 बिजय कुमार रबिदास
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश 211002
bkrabidas@allduniv.ac.in

संरक्षक मण्डल-

डॉ0 नविला सत्यादास
संरक्षक GOAL एवं सेवानिवृत्त सह-प्राध्यापिका व विभागाध्यक्ष
राजकीय महींद्र महाविद्यालय, पटियाला, पंजाब

श्यामलाल राही उर्फ 'प्रियदर्शी'
संरक्षक GOAL एवं सेवानिवृत्त उपशिक्षा निदेशक तथा
वरिष्ठ साहित्यकार, बरेली, उत्तर प्रदेश

डॉ0 राम मनोहर राव
संरक्षक GOAL एवं सेवानिवृत्त संयुक्त शिक्षा निदेशक तथा
वरिष्ठ आंबेडकरवादी साहित्यकार, बरेली, उत्तर प्रदेश

रघुबीर सिंह 'नाहर'
कानूनी सलाहकार GOAL एवं वरिष्ठ आंबेडकरवादी साहित्यकार
अलवर, राजस्थान

डॉ0 रमेश कुमार
उपाध्यक्ष GOAL एवं सेवानिवृत्त आयकर आयुक्त,
अहमदाबाद, गुजरात

स्वामी एवं प्रकाशक देवचंद्र भारती,
मुद्रक गौतम प्रिंटर्स, सी.27/111-बी,
जगतगंज, वाराणसी, (उ.प्र.)-221002 से
मुद्रित एवं शी 19/100, भीम नगर कालोनी
सनबीम वरुणा के पास, कचहरी, वाराणसी
(उ.प्र.) 221002 से प्रकाशित
संपादक- देवचंद्र भारती।

आंबेडकरवादी साहित्य

आंबेडकर-दर्शन पर आधारित त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका

परामर्श मण्डल -

डॉ0 प्रीति आर्या
प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग,
एस.एस.जे. विश्वविद्याल परिसर,
अल्मोड़ा, उत्तराखण्ड

डॉ0 मुकुन्द रविदास
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
वी.बी.एम. कोयलांचल वि.वि.,
धनबाद, झारखण्ड

डॉ0 दुर्गेश कुमार राय
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
के.जी.के. (पी.जी.) कॉलेज,
मुरादाबाद, उत्तर प्रदेश

डॉ0 प्रवेश कुमार
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
शहीद हीरा सिंह राजकीय महावि.
धानापुर, चन्दौली, उत्तर प्रदेश

डॉ0 रवि रंजन
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
धर्म समाज संस्कृत कॉलेज,
रामबाग, मुजफ्फरपुर, बिहार

डॉ0 नूतन कुमारी
सहायक प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग,
एम.डी.डी.एम. कॉलेज,
मुजफ्फरपुर, बिहार

डॉ0 बी.आर. बुद्धप्रिय
सेवानिवृत्त प्राचार्य एवं
वरिष्ठ आंबेडकरवादी साहित्यकार,
बरेली, उत्तर प्रदेश

संपादकीय कार्यालय -
शी 19/100, भीम नगर कालोनी
सनबीम वरुणा के पास, कचहरी,
वाराणसी, उत्तर प्रदेश 221002

विषय सूची -

संपादकीय :
हिंदी साहित्य में विविध विमर्श /03

शोध-पत्र :
हिन्दी में दलित-साहित्य की वैचारिकता
- डॉ. गाजुला राजू /04

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में दलित लेखन का मूल्यांकन और बदलाव की स्थिति - एक विमर्श
- ईश कुमार गंगानिया / 10

सुशीला टॉकभौरे और जयप्रकाश कर्दम की कहानियों में आंबेडकरवाद
- आरती / 18

कुड़माली लोकगीतों में स्त्रियों का योगदान
- गुलांचो कुमारी / 22

नारी विमर्श और सुशीला टॉकभौरे की कविता
- देवचंद्र भारती 'प्रखर' / 28

हिन्दी रंगमंच में महिला रंगकर्मियों का योगदान
- पूजा कुमारी / 39

रिपोर्ट :
GOAL द्वारा अखिल भारतीय कवि सम्मेलन एवं पुस्तक विमोचन का आयोजन / 46

संपादकीय

हिंदी साहित्य में विविध विमर्श

हिन्दी साहित्य के इतिहास में बीसवीं सदी का उत्तरार्धकाल विमर्श काल के रूप में उदित हुआ। उस काल में अनेक विमर्शों का जन्म हुआ, यथा- दलित-विमर्श, स्त्री-विमर्श आदि। बीसवीं सदी का अंत होने के साथ ही अन्य विमर्शों का भी प्रादुर्भाव हुआ। इक्कीसवीं सदी में आदिवासी विमर्श, किन्नर विमर्श, अल्पसंख्यक विमर्श, किसान विमर्श आदि अनेक नाम से साहित्य सृजन एवं साहित्यिक आंदोलन प्रकट रूप में साहित्यप्रेमियों के सामने आये। कुछ विमर्श सामाजिक क्रांति के उद्देश्य से साहित्यिक रूप धारण किये थे, जबकि कुछ विमर्श दूसरे विमर्शों के प्रतिक्रिया स्वरुप साहित्यिक आंदोलन की खाल ओढ़कर प्रकट हुए। कुछ साहित्यिक विमर्श केवल विमर्श तक ही सीमित रह गये, जबकि कुछ विमर्श हिंदी साहित्य जगत में एक अलग साहित्य के रूप में स्थापित हो चुके हैं। ऐसे ही विमर्शों में एक नाम दलित-विमर्श का है, जो अब आंबेडकरवादी साहित्य के रूप में उन्नति के शिखर की ओर निरंतर बढ़ रहा है।

आंबेडकरवादी साहित्य पत्रिका के इस वर्तमान अंक (जुलाई-सितंबर 2024) में हिन्दी साहित्य के अंतर्गत सक्रिय विविध विमर्शों से संबंधित शोध-आलेखों का संकलन किया गया है। यह अंक निःसंदेह शोधार्थियों, प्राध्यापकों एवं साहित्यप्रेमियों हेतु उपयोगी सिद्ध होगा।

देवचंद्र भारती 'प्रखर'

"**आवश्यक सूचना-** GOAL- Global Organization of Ambedkarised Litterateurs (आंबेडकरवादी साहित्यकारों का वैश्विक संगठन) का नाम बदलकर Genuine Organization of Ambedkarite Literati (आंबेडकरवादी विद्वज्जनों का विशुद्ध संगठन) कर दिया गया है।"

- महासचिव GOAL

शोध-पत्र

डॉ. गाजुला राजू
हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
मो. 9059379268

हिन्दी में दलित-साहित्य की वैचारिकता

हिन्दी साहित्य में रचनात्मक विचार के इतिहास की लम्बी परम्परा रही है। वैसे भी साहित्य के इतिहास में अनेक बदलाव हुए, जो कि हिंदी साहित्य की मुख्य धारा में कुछ नयी धाराओं का प्रभावपूर्ण हस्तक्षेप हुआ। हिन्दी साहित्य के इतिहास में काल विभाजन के अन्तर्गत उसके सामानान्तर साहित्य का भी उदय व विकास होने लगा। जैसे आदिकाल में वीरगाथा साहित्य के सामानान्तर नाथों और सिद्धों का साहित्य, भक्तिकाल में पारम्परिक (साहित्य) काव्य जिनका संबंध राम और कृष्ण शाखा से हैं, वहीं कबीर और रैदास जैसे संतों की रचनाएं दृष्टिगोचर होती हैं। जहाँ आधुनिक काल की बात आती है, वहाँ अनेक प्रकार के साहित्य परिवर्तन देखे जा सकते हैं। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध में लिखे गये राष्ट्रीय साहित्य के समानान्तर समकालीन समस्याओं को लेकर लिखने वाले हीरा डोम, अछूतानंद, निराला, प्रेमचंद आदि की रचनायें उलब्ध है। परवर्ती काल में प्रगतिशील आन्दोलन के प्रभाव में आकर बाबा नागार्जुन, जगदीशचन्द्र, मन्नू भंडारी, अमृतलाल नागर आदि की रनचनायें अनेक प्रकार के मुद्दों को उठाकर अभिव्यक्ति के नए माध्यमों से साहित्य की मुख्यधारा को अनेक दिशाओं में मोड़ने का प्रयास किया। इन प्रयासों से मुख्यधारा में समय-समय पर कुछ ऐसी रचनाएं आने लगी, जिन्हें वही व्यक्त व अनुभूत कर सकते थे, जो असल में उसकी सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक सन्दर्भ से जुड़े हों। यह इसलिए कि रचनाकार उनकी रचनाओं के माध्यम से मुख्यधारा को प्रभावित करने वाले थे, जो ऐसी भावभूमि को तय कर चले थे, जहाँ कुछ भी निश्चित नहीं था। ऐसा परिवेश, जहाँ सिर्फ ग्रामीण वातावरण, किसान, गरीबी और शहरी जीवन के अन्दर झोपड़पट्टियों का एक वास्तविक आईना ही उनकी पहचान बनने लगी थी।

ऐसे परिवेश में रहने वाले वे लोग, जिनकी आवश्यकताओं के पूर्ति के लिए गुलामों की तरह दूसरों पर आश्रित रहते थे। वे कभी चाहकर भी अपने जीवन से सम्बंधित महत्वपूर्ण पक्षों पर निर्णय नहीं ले पाते थे। साथ ही वे यह मानने के लिए बाध्य थे कि उनके जीवन से सम्बंधित आवश्यकताएं बाहरी लोगों द्वारा सम्पन्न की जाय। वे लोग भारतीय सामाजिक व्यवस्था के मुख्यधारा के अन्दर हाशिये की जिन्दगी व्यतीत कर रहे थे। जिन्होंने पारम्परिक हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में गुलामी से भी भयानक कष्ट को सहा, जिसका हम अंदाजा भी नहीं लगा सकते हैं। इनकी इस यातना को व्यक्त करने का जब भी मौका मिला, वे अपने मन के दुःख-दर्द व तकलीफों को शब्दबद्ध करने के लिए टूटे-फूटे ही सही, लेकिन समाज के सामने प्रस्तुत किया। इन्हें हम दलित समाज से जुड़े हुए लोग कहते हैं। जिन्होंने समय-समय पर अपनी अनुभूतियों व भावनाओं को जिस मार्मिकता के साथ व्यक्त किया, वह बेशक त्रासदीपूर्ण और हृदय को हिलादेने वाली है। चाहे वह रैदास की वाणी हो अथवा हीरा डोम की 'अछूत

की शिकायत'। संत कवि रैदास को आज समाज में कितनी भी ऊँची एवं महत्वपूर्ण स्थान दिये जाने के दावा करते हों, लेकिन उन्हें भी यह स्वीकारना पड़ा कि-

रैदास जन्म के कारणै, होत न कोई नीच।
नर को जीच करि डरि है, औछे करम की कीच।।

जाहिर है, भारतीय समाज व्यवस्था में हिन्दू समाज के ढाँचे को देखा जाय, तो यह आभास होता है कि यहाँ चाहे कितना भी कहले कि वर्ण व्यवस्था और जाति-प्रथा को श्रम विभाजन के सहारे बनाया गया है और इसका श्रम-विभाजन है, नकि जन्म। रैदास की इन पंक्तियों में यह स्पष्ट अवगत होता है कि यह समाज वर्ण-व्यवस्था और जाति-प्रथा के आधार पर ही बना है। यह विचार करने की बात है कि ऐसे समाज में मनुष्य के रूप में देखा जाता है और न ही उसका ज्ञान, बुद्धि एवं विद्वत्ता को यह सिर्फ जाति के नाम से देखा जाता है। वह उच्च जाति का होने से उसका समाज में वही स्थान रहता है, जो कि मनुस्मृति के अनुसार या वर्णाश्रम के अनुसार बताया गया। चाहे वह कितना ही मंदबुद्धि और नालायक़ क्यों न हो। वहीं दूसरी ओर कितना भी बड़ा विद्वान हो और विद्वत्ता हासिल कर लिया हो, फिर भी वह जाति से अछूत, अस्पृश्य एवं दलित कहलायेगा। यही भारतीय एवं हिन्दू समाज व्यवस्था की बिडम्बना है। इस वर्ण व्यवस्था, जाति-प्रथा का शिकार सबसे पहले वे ही लोग हुए जो जाति-वयवस्था में सबसे निचले पायदान पर रहने वाले शूद्र (दलित) कहलाते थे। रैदास की इस आत्म-स्वीकृति को देखकर जान सकते हैं कि दलित समाज एवं जाति के जीवन की दासता सदियों से चलती आ रही है, जिसकी पीड़ा को उस समय से अभिव्यक्त करते आ रहे हैं।

दलितों की वास्तविक जीवन की पारिकल्पना कर साहित्य में रचा जाता है तो यह समझना आवश्यक हो जायेगा कि वह किनके द्वारा रचा जा रहा है। यहाँ इस सन्दर्भ में ज्योतिबा फुले के विचारों का उल्लेखित करना उचित होगा। उनका मानना है कि गुलामी की यातना जो सह सकता है, वही जानता है और जो जानता है वही पूरा सच कह सकता है। सचमुच राख ही जानती है जलने का अनुभव, कोई और नहीं इससे जाहिर होता है कि दलित की पीड़ा को सिर्फ वही व्यक्त कर सकता है, जो स्वयं एक दलित हो। जब भी यह सवाल उठता है कि दलित साहित्य क्या है? किसका साहित्य दलित साहित्य कहलाता है? वह साहित्य जो दलितों द्वारा लिखा जाए, या वह जो गैर दलितों द्वारा? यह एक गंभीर सवाल के रूप में उठ खड़ा होता है। इस विषय को लेकर रचनाकारों में भिन्न मत व्यक्त होते हैं। क्योंकि गैर दलित लेखकों का मानना हैं कि जिस रचना में दलित विषय को लेकर चर्चा होती है, वह बिल्कुल दलित साहित्य की कोटि में आती है और वह दलित साहित्य कहलाता है। दलित साहित्य और चिंतन से जुड़े अधिंकाश विचारकों एवं लेखकों का मानना है कि वास्तविक दलित साहित्य वही है, जो दलितों द्वारा लिखा गया है। इसके समर्थन में ओमप्रकाश वाल्मीकि, डॉ. धर्मवीर, मोहनदास नैमिशराय, तुलसीराम, जय प्रकाश कर्दम, श्यौराज सिंह बेचैन आदि अथवा गैर दलित लेखकों में राजेन्द्र यादव, मैनेजर पाण्डेय, प्रेमकुमार मणि, वीरभारत तलवार आदि आते हैं।

कुछ लेखकों का समर्थन यह भी है कि गैर-दलित लेखकों के साहित्य को भी दलित साहित्य में शामिल करना होगा, लेकिन यह सर्वमान्य नहीं हैं। एक तरफ तुलसीराम जैसे लेखकों का मानना है कि 'आत्मकथा को छोड़कर बाकि सब विधाओं में रची जाने वाली लेखन को दलित-साहित्य कह सकते हैं। लेकिन अन्य लेखक इसे 'दलित चेतना का साहित्य' या दलित सहानुभूति का साहित्य कहना उचित माने

हैं। इस सन्दर्भ में यह महत्वपूर्ण कथन द्रष्टव्य है- ''सवर्ण लेखकों द्वारा अछूतों के जीवन का चित्रण साहित्य में होता रहा, परन्तु इस चित्रण के मूल में दया और सहानुभूति ही अधिक है, विद्रोह या संघर्ष की भावना नहीं''। इस कथन से स्पष्ट होता है कि स्वयं दलित को छोड़कर अन्य किसी भी लेखक द्वारा लिखी जाने वाली रचना को दलित-साहित्य कहना उचित नहीं होगा। क्योंकि गैर-दलित लेखक द्वारा लिखे गये साहित्य में वर्ग-चेतना का चित्रण होता है न कि वर्ण संघर्ष का। इसलिए अधिकांश लेखकों का मानना हैं कि दलितों द्वारा लिखित रचना ही दलित-साहित्य है, चाहे वह कविता हो, कहानी हो, उपन्यास हो या नाटक।

सही अर्थ में देखा जाय तो दलित-साहित्य की अवधारणा को लेकर यह विचार किया जाता है कि इसका पाठ, विषयवस्तु, पाठ की अंतर्वस्तु, पाठ के स्वरूप और समाज-दर्शन कहाँ तक ठीक है। यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि दलित साहित्य किसी परम्परा का पालन करने वाला साहित्य नहीं है। जिसमें सौन्दर्यबोध का चित्रण हो। जितनी मात्रा में इधर दो दशकों में दलित साहित्य प्रकाश में आया, उसमें कहीं अधिक दलित साहित्य का विरोध हुआ है- 'कभी अलगाववादी साहित्य कहकर, कभी जातिवादी कहकर, कभी एकांगी कहकर। कभी-कभी यह भी आरोप लगाया जाता है कि दलित साहित्य कला की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। इसीलिए कभी-कभी उसके सौंदर्यशास्त्र की माँग की जाती है। कभी-कभी उसकी परम्परा और अतीत की जड़े खोदने की कोशिश इतिहास में भी की जाती है। यह सिर्फ उसे नकारने के प्रयास ही हैं और कुछ नहीं। गैर-दलितों का जो सौन्दर्यबोध है, वह सवर्ण मानसिकता का है, जिसके अन्दर कोई पीड़ा, त्रासदी, भूख जैसे विषयों का विवरण नहीं होता और न ही उनकी जैसी भाषा का उपयोग। इसीलिए उन्होंने कभी इस साहित्य को स्वीकारने की बात नहीं की। वे नहीं चाहते हैं कि यह साहित्य मुख्यधारा में अपनी पहचान बनाये रखे। अफसोस की बात यह है कि उनकी कोई भी चाल नहीं चल सकी और दलित साहित्य को आज पूरी तरह स्थापित होने से रोकने में वे कामयाब नहीं हो पाए। भारतीय समाज के परिप्रेक्ष में देखा जाए, तो वह साफ दिखाई देता है कि गैर दलित लेखक कभी दलितों की संवेदना तक नहीं पहुँच सके और न ही वह उनके जीवन में प्रवेश कर सके। ओमप्रकाश वाल्मीकि जैसे लेखक का मानना है कि ''दलित यदि गैर-दलित के पास आता है, तो वह एक गुलाम की तरह आता है। गैर दलित जब दलित के पास जाता है तो मालिक की तरह। उसका जातीय अहम, श्रेष्ठता भाव उसके साथ होता है। उसके संस्कार उसके साथ होते हैं। सबकी बहुलता में वह दलित जीवन को नहीं देख पाता है।'' इस कथन से स्पष्ट होता है कि वाल्मीकि और उन जैसे लेखकों का भी मंतव्य यही होगा कि गैर दलित लेखक कभी भी समर्पित नहीं हो सकता।

जब इस विषय को लेकर चर्चा कर रहे हैं, तो हमें एक नजर यह भी देखना होगा कि आखिर इन गैर दलितों का साहित्य क्यों दलित साहित्य में नहीं समाया जा रहा है। गैर-दलित लेखकों द्वारा लिखी गयी रचनाओं की संवेदना और स्वर में बहुत ज्यादा फर्क दिखाई देने लगता है। जिसके कारण वह दलित जीवन की गहराइयों तक पहुँच नहीं सके। अमृतलाल नागर अपने उपन्यास ''न्याच्यौं बहुत गोपाल'' में ब्राह्मणवादी संस्कारों का पालन एक दलित स्त्री द्वारा करवाते हुए दिखाई देते है। जिसका आधार वर्णाश्रम से है। यह वे अपने वर्णाश्रम संस्कारों से पीछा नहीं छोड़ सके। गैर दलित-लेखन में कितनी भी गहराई क्यों न हो, उसमें कहीं न कहीं हिन्दू धर्म का वर्णाश्रम या गांधीवाद का हरिजन का पालन करते दिखाई देने लगता है, जो कि दलित साहित्य में फिट नहीं हो

पाता है। हिन्दी साहित्य में दलित साहित्य का चित्रण प्रेमचंद के साहित्य से माना जाता है। शायद इसलिए कि उनके समय में भारत पराधीन था। उसके चलते उन्होंने अपना प्लाट ग्रामीण किसान और हाशिये के समाज को चुना है। इसका यह मतलब नहीं है कि वे दलित लेखक हैं, उनका लेखन दलित है। फिर भी उनके साहित्य में हाशिये के समाज को प्राथमिकता दी गयी है। लेकिन यह भी दलित पात्र अंततः उनके अन्दर के आक्रोश को या संघर्ष को कहीं पर भी व्यक्त नहीं कर पाते हैं, जिसका अभाव प्रेमचंद के रचनाओं में स्पष्ट नजर जाता है। सूर्यनारायण रणसुभे जी का कहना है कि यहाँ हम प्रेमचंद जैसे प्रतिभा संपन्न लेखक द्वारा अछूतों की समस्या पर लिखे गए कथा साहित्य का अवमान करना नहीं चाहते, क्योंकि प्रेमचंद ने पहली बार इनकी यातना को शब्द दिए हैं। परन्तु प्रेमचंद के दलित पात्र भी सम्पूर्ण व्यवस्था के प्रति आक्रोश व्यक्त नहीं करते हैं, संघर्ष और परिवर्तन के लिए वे खड़े नहीं होते हैं। सारी जीवान्तता के बावजूद भी ये पात्र सहानुभूति और दया से ही देखे जाते हैं। कहने का तात्पर्य ही है कि गैर-दलित साहित्यकार दलितों का पक्ष तो लेते हैं लेकिन उनके अन्दर के जुनून को बाहर निकालने में वे साहस नहीं जुटा पाते हैं। आगे वे कहते हैं कि दलित साहित्य की पहचान का स्वर विद्रोह और सक्रिय असहमति निषेध या संघर्ष किसी तरह की बाहरी वस्तु नहीं है। जहाँ बाहरी आरोपण लगता है, वहाँ सर्जनात्मकता के साथ उसका सामंजस्य नहीं होता। अपितु जहाँ वह सर्जनात्मकता की अनिवार्यता का हिस्सा है, उसका स्वर रचना की अंतरंगता प्रकट करता है। इसलिए यह आवश्यक है कि विद्रोह के स्वरों, उनके समस्त प्रासंगिक बिन्दुओं का प्रशिक्षण, अन्वेषण किया जाना चाहिए। स्पष्ट है कि दलित साहित्य का स्वर दबे रहने की मंशा नहीं रखता है। वह अपने हक के लिए समानता के लिए संघर्षमय होकर एक नयी राह पर चलने की प्रेरणा देता है।

पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी का मानना है कि दलित साहित्य के रचनाकारों की समाज में क्रांति अथवा एक महत्वपूर्ण परिवर्तन लानें के लिए साहित्य-सृजन के कर्म के पीछे एक स्पष्ट वैचारिक धारणा है और इसके लिए आवश्यक हो जाता है कि वे स्थितियों-घटनाओं-परिवेश के प्रति वैचारिक और विवेकपूर्ण रवैया अपनाएं। दलित साहित्य का सृजन मूलतः मराठी साहित्य से माना जाता है। यह सही है कि जिस तरह से मराठी में दलित साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ वह अन्य किसी भी लेखन में नगण्य सा जान पड़ता है। यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि दलित साहित्य की प्रेरणा फूले, आंबेडकर, साहू महाराज जैसे महान व्यक्तित्व के द्वारा मिली है। जिसका आज इतने बड़े पैमाने पर लेखन चल रहा है। 1960 के दशक में मराठी में दलित साहित्य का प्रखर-पन सामने आया। जिसका प्रभाव हिन्दी साहित्य जगत में दिखाई देने लगा। 1980 के बाद का समय हिन्दी में दलित साहित्य का रहा। जिस समाज में रहते थे उसी समाज में शूद्र (दलित) बनकर हाशिये का जीवन जीने वाला समाज आज अपनी अभिव्यक्ति को अंजाम देने के लिए मुख्यधारा के साहित्य को चुनौती देने लगा। ओमप्रकाश बाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, जयप्रकाश कर्दम, श्यौराज सिंह बेचैन, धर्मवीर, माता प्रसाद, तुलसीराम, सत्यप्रकाश आदि लेखक हिन्दी दलित साहित्य में महत्वपूर्ण योगदान दिये हैं और दे रहे हैं। जिनके विचारों से दलित साहित्य का क्षेत्र व्यापक रूप लेता जा रहा है। आज सिर्फ आत्मकथा ही नहीं वरना कहानी, कविता, उपन्यास, नाटक एवं संस्मरण साहित्य में भी अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया है। आज दलित साहित्य जगत में अपना स्थान स्थापित कर लिया है। इस मुकाम तक पहुँचने के लिए नाजाने कितने ही संघर्षों से गुजरा है। मुख्यधारा के अन्दर एक लम्बी

लड़ाई लड़कर अपना फासला तय किया है। इनमें से ओमप्रकाश बाल्मीकि ने साहित्य के सभी क्षेत्रों में सर्वाधिकार महत्वपूर्ण कार्य किया है तथा उनकी प्रकाशित कृतियों में सदियों का संताप, बस्स! बहुत हो चुका (काव्य संग्रह), जूठन (आत्मकथा), सलाम (कहानी संग्रह) आदि चर्चित हैं। उन्होंने अपने कहानियों में ब्राह्मणवाद और सामंतवाद के खिलाफ आवाज उठायी है। दलितों के प्रति होने वाले शोषण, दमन और तिरस्कार का मार्मिक चित्रण किया है। उनकी कविताओं में जाति, वर्ण व्यवस्था पर कड़ा प्रहार करते दिखाई देते हैं। जाति प्रथा से जुड़े परम्परागत रूढ़ियों को तोड़ने की कोशिश करते हैं। उनकी 'जाति' नामक कविता में वर्णव्यवस्था और धर्म के मायाजाल को तोड़ने की सार्थक कोशिश की गयी है-

स्वीकार्य नहीं मुझे जाना,
मृत्यु के बाद तुम्हारे स्वर्ग में।
वहाँ भी तुम पहचानोगे मुझे
मेरी जाति से ही।

'जूठन' आत्मकथा हिंदी की सर्वाधिक चर्चित कृति के रूप में प्रसिद्धि पायी है। यह वाल्मीकि की श्रेष्ठतम कृति मानी जाती है। इसमें उन्होंने उन सभी विषमताओं का उल्लेख किया, जिनका भारतीय समाज में विकृति के रूप में सामने आते हैं। दलितों की संस्कृति, इतिहास और रीति-रिवाज आदि के साथ-साथ शिक्षा का महत्व एवं सामाजिक विषमता का मर्मान्तक चित्रण किया गया है। इसके आलावा इन्होंने आलोचना में भी अपना योगदान दिया है। ऐसे बहुमुखी प्रज्ञाशाली के द्वारा आज दलित साहित्य का विकास सर्वोच्च स्थान पर है। दलित साहित्य के क्षेत्र में मोहनदास नैमिशराय और जयप्रकाश कर्दम का नाम भी आदर के साथ लिया जाता है। उनका साहित्य कर्म हिन्दी साहित्य में प्रमुख स्थान प्राप्त करता हैं। मोहनदास नैमिशराय ने अपने-अपने पिंजरे (आत्मकथा), आवाजें (कहानी संग्रह) और क्या मुझे खरीदोगे, आज बाजार बंद है, झलकारी बाई और बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर जैसे उपन्यासों को दलित जाति को समर्पित किया है। डॉ. धर्मवीर एक ऐसे आलोचक हैं, जिन्होंने मुख्यधारा के आलोचकों को चुनौती दी है। आजीवक परम्परा को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने दलित समाज को एक नया मुकाम एवं मार्ग प्रशस्त किया है। महान आजीवक मक्कली गोसाल, कबीर के आलोचक, पहला खत, मेरी पत्नी और भेड़िया आदि रचनाओं से हिन्दी साहित्य जगत में अपनी पहचान बनाई है। जयप्रकाश कर्दम एक ऐसे रचनाकार हैं, जिन्होंने पहली बार दलित साहित्य को एक मजबूती दी है अपने उपन्यास 'छप्पर' के साथ। साहित्य जगत में यह एक मील का पत्थर साबित हुआ है। जिसके अन्दर शिक्षा के महत्व को बताते हुए सामन्तवाद एवं जाति के चलते दलित जीवन की त्रासदी एवं संघर्ष का यथार्थ एवं मार्मिक चित्रण किया है। जिसमें दलित युवक चन्दन द्वारा शिक्षा का ज्ञान दलितों तक पहुँचाना और समाज एवं जाति व्यवस्था के प्रति संघर्ष करने का मनोबल दिये जाने का चित्रण है। जिसका आधार अंबेडकर के शिक्षित होना, संगठित होना और संघर्ष करने से है। इनके अलावा और कई लेखक हुए हैं, जिनकी रचनाओं के माध्यम से दलित जीवन का यथार्थ चित्रण ही नहीं अथवा संघर्षमय चेतना का सरोकार भी दिखाया जा रहा है। इनमें दलित साहित्य को अंबेडकर के विचारों से परे होकर नहीं देखा जा सकता। क्योंकि अंबेडकर के विचारों के आधार पर आज का दलित साहित्य लिखा जा रहा है। आज दलित साहित्य मुख्यधारा में शामिल हो रहा है और एक नए दृष्टिकोण से पाठक वर्ग को आकर्षित कर रहा है। यह इस संकेत की ओर इशारा करता है कि हिन्दी साहित्य में दलित साहित्य परम्परा

से हट कर नए सन्दर्भों को उजागर करते हुए यथार्थबोध कराता है। साथ ही हाशिए के समाज का प्रतिनिधित्व करते हुए उन्हें चेतनामय संघर्ष की ओर प्रेरित करता है। इस विकास को देखकर यूँ लगता है कि आने वाले समय में हिन्दी साहित्य में दलित साहित्य का ही परचम लहरायेगा और वह भी एक सशक्त साहित्य के रूप में विद्यमान होकर रहेगा।

ग्रन्थ सूची-

1. कर्दम, जयप्रकाश, दलित विमर्श साहित्य के आइने में, गाजियाबाद, साहित्य संस्थान, संस्करण, 2006
2. गुप्ता रमणिका, बल ज्ञान सिंह, दलित दर्शन, दिल्ली, नेहा प्रकाशन, 2009
3. चौबे देवेन्दर, आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श, नई दिल्ली, ओरियंट ब्लाक स्वॉन, 2009
4. सत्यप्रेमी पुरुषोत्तम, दलित साहित्य और सामाजिक न्याय, दिल्ली, समता प्रकाशन,

आंबेडकरवादी विद्वज्जनों का विशुद्ध संगठन

संस्था GOAL की सदस्यता ग्रहण करने वाले व्यक्तियों को निम्नलिखित लाभ प्राप्त होंगे-

1. आंबेडकरवादी साहित्य पत्रिका की सदस्यता निःशुल्क प्रदान की जाएगी।
2. उक्त पत्रिका में बधाई/शुभकामना संदेश निःशुल्क प्रकाशित किया जाएगा।
3. संस्था के पदाधिकारी/सदस्य द्वारा रचित साहित्य को उक्त पत्रिका में प्रकाशित करने हेतु वरीयता प्रदान की जाएगी।
4. संस्था से जुड़े साहित्यकारों की प्रकाशित पुस्तकें उपहार में दी जाएँगी।
5. संस्था द्वारा आंबेडकरवादी साहित्य सम्मान अथवा धम्म प्रहरी सम्मान (जो भी लागू हो) प्रदान किया जाएगा।

शोध-पत्र

ईश कुमार गंगानिया
वरिष्ठ साहित्यकार, दिल्ली
मो.- 9868583257

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में दलित लेखन का मूल्यांकन और बदलाव की स्थिति - एक विमर्श

मेरे लिए दलित लेखन का मूल्यांकन ऐसा है जैसाकि स्पाइन या ब्रेन की सर्जरी जैसे जोखिम को निमंत्रण देना। कहने की जरुरत नहीं कि दलित लेखन में असहमतियों के लिए ना के बराबर स्पेस है। साहित्य की यह मुहिम कमोबेश वर्तमान निजाम की तर्ज पर चल रही है, जहाँ सत्ता के सुर में सुर मिलाओ तो सब ठीक, वरना कुछ भी ठीक नहीं, यानी पूर्वाग्राही दुश्मनी। डा. धर्मवीर से आजीवक को लेकर वैचारिक असहमति बनी तो शांति स्वरुप बौद्ध ने गद्दार सत्ता भाग 1, मक्खलि गोसाल के मानसपुत्र जैसी पुस्तक संपादित कर डाली। इसमें लिखने वालों ने प्रतिशोध के चलते आजीवक को लेकर वह सब लिख डाला, जो रचनात्मक नहीं था और नहीं लिखना चाहिए था। कंवल भारती और डा. धर्मवीर के बीच वैचारिक विवाद हुआ तो कंवल भारती ने डा. धर्मवीर का फासिस्ट चिंतन नामक पुस्तक लिख डाली। डा. धर्मवीर और ओमप्रकाश वाल्मिकि के बीच कुछ हुआ तो डा. धर्मवीर ने जय भंगी, जय चमार (खण्ड एक) जूठन का लेखक कौन? की श्रृंखला ही शुरु कर दी। ऐसे हालात में सार्थक संवाद या बदलाव की स्थिति के लिए मुझे नहीं लगता कि कोई खास स्पेस बचता है। लेकिन फिर भी अंधेरे के खिलाफ नई रोशनी की तालाश हर जिम्मेदार नागरिक का पहला कर्तव्य है। जाहिर है, मेरा भी है। जोखिम इसलिए कहा कि विषय बेहद गंभीर है और मेरी पहचान विवादित है, क्योंकि मैं दलित साहित्यकार नहीं हूँ और आज मैं कह सकता हूँ कि मैं आंबेडकरवादी साहित्यकार भी नहीं हूँ। लेकिन हाँ, मैं अम्बेडकरवादी वैचारिकी का संवाहक जरुर हूँ। मैं किसी वाद का मोहताज रहकर अपनी वैचारिक उड़ान को बाधित/सीमित करने का पक्षधर नहीं हूँ। गौरतलब है कि यह जज्बा भी मैंने अम्बेडकरी वैचारिक से पाया है। इसलिए मेरा वर्तमान लेखन न कोई वाद, न कोई विवाद, सिर्फ और सिर्फ समय से संवाद के भाव का पक्षधर है। मैं यह मान कर चल रहा हूँ कि वर्तमान चर्चा के विषय में प्रयुक्त शब्द दलित लेखन का मूल्यांकन मुझे मेरा पक्ष रखने के लिए स्पेस बनाता है, क्योंकि मैं भी दलित समाज से आता हूँ। भले ही मेरी स्थिति दलित साहित्य में हीरा डोम 'अछूत' जैसी है, मगर मैं हीरा डोम की तरह शिकायत नहीं, हस्तक्षेप कर रहा हूँ। मेरा हस्तक्षेप वर्ग विहीन व जाति विहीन समाज के निर्माण के लिए है। मेरा हस्तक्षेप सभी प्रकार के शोषण उत्पीड़न के विरुद्ध समता, स्वतंत्रता और बंधुता के दम पर संत रैदास के बेगमपुरा जैसे समाज/देश निर्माण में सहभागिता का हस्तक्षेप है।

जहाँ तक साहित्य की वर्तमान दशा का प्रश्न है, मुझे लगता है साहित्य दो सांडो के बीच एक झुंड की तरह

फंसा है। एक सांड दलित (स्त्री, आदिवासी आदि) का प्रतिनिधित्व करता है और दूसरा परंपरावादी/वर्चस्ववादी जातियों का। मगर एक तीसरा सांड भी है, वह दोनों से अलग खड़ा जुगाली कर रहा है। उसकी जुगाली से कितना साहित्य सृजन हो रहा है, यह अपने आप में अलग से शोध का विषय है। ऐसा लगता है, इन सांडों के बीच पूर्वाग्राही दुश्मनी के चलते संवाद, सृजन और समाज निर्माण के लिए कोई खास स्पेस नहीं बचा है। वर्तमान साहित्य को इस स्पेश के विस्तार की जरुरत है, ताकि आपसी सकारात्मक संवाद के लिए अधिक से अधिक स्पेस बने। तथागत बुद्ध, कबीर, रैदास, फुले और डॉ. आंबेडकर ने भी ऐसे ही स्पेस का इस्तेमाल किया है और आज ये विश्व पटल पर छाए हुए हैं। इसे किसी सीमा तक मध्यम मार्ग भी कह सकते हैं। स्पेस का सदुपयोग अम्बेडकरवाद की प्रमुख पहचान है, जो अपने पक्ष की वैज्ञानिकता, नैतिकता, सृजन और निर्माण के रूप में जानी जाती है। लेकिन वर्तमान दलित साहित्य के बारे में ऐसा कोई ठोस दावा नहीं किया जा सकता। क्योंकि यह एक अंधभक्त की तरह डा. आंबेडकर और उनके साहित्य के शरणागत है, इसका प्रचार है, मगर इसका अम्बेडकरवाद से कोई वास्ता नजर नहीं आता।

प्रश्न है- साहित्य में ये दो या तीन ध्रुव क्यों है और इनके आपसी टकराव की वजह क्या है? अगर अपवाद को छोड़ दें, परंपरावादी यानी जातिवादी समाज से जुड़ा साहित्यकार अपने जातीय वर्चस्व और इसकी पोषक परंपराओं को बनाए रखना चाहता है। इसमें इसके और इसके समाज के हित सुरक्षित हैं, जिसके चलते दलित समुदाय में इंसान के सामान्य जीवन जीने और आगे बढ़ने के लिए कुछ खास बचता ही नहीं है। यह टकराव शोषक और शोषित यानी परंपरागत वर्चस्व को वंचितों की चुनौती से उपजा टकराव है। इसलिए शोषित समाज अपनी सम्मानजनक अस्मिता व वजूद के लिए संघर्षरत है। लेकिन अफसोस दलित शब्द को अपनी अस्मिता मान बैठा है, जिसका तर्क विवेक और वैज्ञानिकता से कोई वास्ता नहीं है। हैरत की बात है कि यह लड़ाई अम्बेडकरवाद को ठीक से समझे बगैर, इसके बैनर तले लड़ी जा रही है। जाने अनजाने यह डा. अम्बेडकर की वैचारिकी को बौना करने का उपक्रम बनकर रह गया है। इस आलेख को लिखने के पीछे मेरा मकसद दलित के मिथक से मुक्ति, समाज निर्माण की परिस्थितियों के लिए स्पेस बनाना और इसके सदुपयोग के विकल्प तलाशना है। गौरतलब है, दलित शब्द है और रहेगा भी, समाज के स्तर पर भी दलित समाज का प्रयोग भी रहेगा। लेकिन इनकी हर गतिविधियों के साथ 'दलित' शब्द को जोड़कर इसका महिमामंडन तर्कसंगत नहीं है।

बाबा साहब स्वयं दलित शब्द के पक्षधर नहीं थे। वे नामकरण शीर्षक के अंतर्गत दलित को पहचान के रूप में अस्वीकार करते हुए कहते हैं- एक अति उत्तम अवसर है कि दलित वर्ग का एक उचित और उपयुक्त नामकरण किया जाए। वे इसकी ठोस वजह भी बताते हैं दलित वर्ग एक निम्न और असहाय समुदाय है, जबकि वास्तविकता यह है कि हर प्रांत में उनमें से अनेक सुसंपन्न और सुशिक्षित लोग हैं और समूचे समुदाय में अपनी आवश्यकताओं के प्रति चेतना जागृत हो रही है। उसके मन में भारतीय समाज में सम्मानजनक दर्जा प्राप्त करने की प्रबल लालसा पैदा हो गई है, और वह उसे प्राप्त करने के लिए भरसक प्रयास कर रहा है। इन सब कारणों के आधार पर दलित वर्ग शब्द अनुपयुक्त और अनुचित है।

इन सबके बावजूद, दिन-रात बाबा साहब डा.

आंबेडकर का राग अलापने वाले हमारे एक विद्वान साथी चंद्रभान प्रसाद दलित शब्द की स्थापना की दीवानगी के चलते, जीवन में जो कुछ भी है, उससे पहले दलित शब्द जोड़कर चलने को ही दलित समाज की प्रगति का मार्ग समझते हैं। वे रोजमर्रा प्रयोग में आने वाले प्रोडक्ट्स जैसे अचार, मसाले, रेडीमेड गारमेंट्स, बैंक, स्टॉक एक्सचेंज आदि के साथ दलित शब्द चस्पा करते हैं और इसके चलते दलित अचार, दलित मसाले, दलित रेडीमेड गारेमेंट्स, दलित बैंक, दलित स्टॉक एक्सचेंज जैसा नया शब्दकोश ईजाद करते हैं। उनकी इस भावना को किसी प्रकार का राजनीतिक रंग देने की मेरी कोई मंशा नहीं है, अपितु एक संदर्भ रूप में उद्धृत किया गया है। इसी प्रकार दलित साहित्य के पैरोकार भी साहित्य की हर विधा के नाम से पूर्व दलित शब्द जोड़कर परंपरागत साहित्य से अलगाते हैं और इसे अपने साहित्य की अलग-अलग विधाओं की पहचान के रूप में मौजूद हैं। कांचा इलैया इसे विस्तार देते हुए बताते हैं- अब खुद धर्म का इतिहास भी अपने अंत पर पहुँच रहा है। हमारे लिए जरुरी है कि अपने समग्र समाज का दलितीकरण करें। दलितीकरण ही सारे भारतीय समाज में एक नए समतावादी भविष्य की स्थापना करेगा। वी.टी. राजशेखर इस विस्तार को दूसरा कलेवर देते हैं- दलित होने, इस प्राचीन धरती के मूलनिवासी होने में गर्व महसूस करो। आओ! सिर ऊँचा करके चलें। दलित संस्कृति पर गर्व करें। जो काला है वह सुंदर है। विचित्र है, मगर फिर भी हिन्दू धर्म की तर्ज पर दलित शब्द को स्थापित करने के पीछे ऐसी दीवानगी है कि दलित को अस्मिता, संघर्ष व उपलब्धियों के प्रतीक की तरह प्रचारित-प्रसारित करने की होड़ लगी है। हिन्दूवाद की तर्ज पर ही इन्होंने बाबा साहब को मार्गदर्शक की बजाए एक नया अवतार/ईश्वर बना कर रख छोड़ा है। यह किन्हीं मायनों में हिन्दूवादी मोनोपाली की तर्ज पर दलित साहित्यकारों की मोनोपॉली का नया संस्करण है।

डा. कर्दम दलित मोनोपॉली के सशक्त हस्ताक्षरों में से एक, प्रमुख हस्ताक्षर हैं। वे प्रो. तुलसीराम के राष्ट्रीय सहारा अखबार में प्रकाशित एक आलेख के हवाले से बताते हैं- संगठित रूप से सबसे पहले गौतम बुद्ध ने वर्ण व्यवस्था विरोधी अभियान चलाया था। अतः प्राचीन बौद्ध साहित्य ही वर्तमान दलित साहित्य की जननी है। वे पर्सेप्सन के आधार पर इसे और आगे बढ़ाते हैं- तुलसीराम की इस धारणा के अनुसार बौद्ध साहित्य के पदों या श्लोकों को दलित कविता का प्रारंभ माना जा सकता है। अंततः अपनी स्थापना देते हैं। कुछ दूसरे विद्वानों के अनुसार दलित कविता का प्रारंभ सिद्ध और नाथ कवियों की रचनाओं से है, तो कुछ के अनुसार कबीर और रैदास की वाणी दलित साहित्य की प्रारंभिक रचनाएं हैं। इस दृष्टि से दलित कविता का उद्भव कबीर और रैदास की रचनाओं से होता है।

डा. कर्दम के द्वारा पहले तथागत बुद्ध और उसके बाद सिद्ध और नाथ, फिर कबीर और रैदास की कविता को दलित कविता के उद्भव के रूप में प्रचारित करना, एक प्रकार की जबरदस्ती है। ऐसा साहस साहित्य की विश्वसनीयता को भी संदिग्ध बनाता है। नहीं भूलना चाहिए कि किसी भी स्थापना या निष्कर्ष में तथ्यात्मकता और इनकी सार्वभौमिकता के तत्व मौजूद होते हैं, जो इन्हें स्वीकार्य बनाते हैं। इन तत्वों की उपेक्षा कर हमें किसी विरासत को अपना बनाने की ऐसी किसी भी मुहिम से बचना चाहिए। दलितपन के जुनून में दलित साहित्य का अगर कोई पुरोधा कल बौद्ध साहित्य को भी दलित साहित्य का हिस्सा घोषित करने लग जाए, तो हैरत नहीं होनी चाहिए?

जहाँ तक संतों का सवाल है, संत रैदास खुद को खलास चमारा कह कर संबोधित करते हैं। क्या उन्हें मात्र जाति के आधार पर दलित साहित्य की खेमेबंदी का हिस्सा बनाना उचित है? मेरा प्रश्न है- क्या रैदास को बेगमपुरा और संत कबीर को अमरदेवसवा के साथ किसी जाति या दलित की कोठरी में बंदी बनाकर रखा जा सकता है? क्या सिद्धों, नाथों और संतों के बहुआयामी वैचारिक कैनवास को मात्र दलित जातियों तक सीमित कर दलित साहित्य के खूंटे से बांधने की कवायद तर्कयुक्त है? इसमें संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है कि ये सभी शख्सियतें जाति और धर्म की संकीर्ण दीवारों से परे, विशुद्ध मनवतावादी सोच से ओतप्रोत थीं और इसे अपने बेबाक अंदाज में अभिव्यक्त भी करती थीं। यह अच्छी बात है कि वर्तमान दलित साहित्यकारों की तरह सिद्ध-नाथों और संतों के सामने पाठ्यक्रम में शामिल होने की कोई अफरातफरी नहीं थी, मगर वे बराबर सिलेबस का हिस्सा हैं, आखिर क्यों? दलित साहित्यकारों को इस प्रश्न पर भी संभीरता से विचार करना चाहिए। क्या नहीं करना चाहिए?

एक प्रश्न और अगर हमारे महानायकों के जीवन में पुरस्कार पाने और किन्हीं संगठनों की मठाधीशी के लिए लालसा होती, तो भी क्या वे किसी तिकड़मबाजी के शिकार हो सकते थे? निस्संदेह नहीं। क्योंकि उनका संघर्ष और साहस बताता है कि अवसरवाद जैसी बीमारी उनके जहन को छू तक नहीं गई थी। मेरा आग्रह है कि दलित साहित्यकार अगर तथागत बुद्ध, कबीर, रैदास, फुले, बाबा साहब आदि की विरासत बनने के लिए वास्तव में गंभीर हैं, तो उनके चिंतन दर्शन की तर्ज पर अपने चिंतन-दर्शन लेखन के प्रति भी सार्वभौमिक दृष्टिकोण अपनाएं, तथ्यों के प्रति निष्पक्ष व ईमानदार बने, बस इतना सा ही तो काम है और क्या? इसके बाद जीवन के किसी भी क्षेत्र में किसी भी तिकड़मबाजी की जरुरत नहीं रह जाती।

डा. धर्मवीर की अवसरवाद के अवसाद और दलित्व के योजनाबद्ध तरीके से उन्मूलन की रणनीति काफी सार्थक लगती है। उनकी चाहत थी कि हिन्दी में दलित लेखकों की पांच सौ पुस्तकें आएं। वे इसकी वजह बताते हैं कि इसके लिए दो काम करने पड़े। पहला, जो दलित कौमें बाबा डा. आंबेडकर के नाम और कामों से परिचित नहीं थी, उन्हें परिचित कराया गया। दूसरी, जो दलित विद्वान मार्क्सवाद और जनवाद में फंसे पड़े थे, उन्हें वापस उनकी जड़ों के पास लाया गया। अब देखें क्या-क्या जुड़ता है और कैसी-कैसी उपलब्धियाँ होती है। आंदोलन को समग्रता में देखने वाली डा. धर्मवीर की यह दृष्टि प्रशंसनीय है। लेकिन यह बिल्कुल अलग बात है कि बाद के दिनों में डा. धर्मवीर खुद अपने मार्ग से भटक गए और जार सत्ता के बखान में उलझ कर रह गए। अंततः वे आजीवक धर्म जो मेरी दृष्टि में धर्म, नहीं है, की स्थापना व पैगंबर बनने के चक्कर में, जो कुछ भी उन्होंने बौद्धिक जगत में उल्लेखनीय कमाया था, उसे भी गंवा बैठे।

बेशक, डा. धर्मवीर की हसरत हार जाती है, मगर अपनी इस हार की जो वजह वे बताते हैं, वह काबिल-ए-गौर है। दलित लेखकों के बीच एक दूसरे से खुफियागिरी चल रही है। पुरस्कार न हो गया, दलित लेखकों के बीच एक खलनायक पैदा हो गया है। यदि यह पुरस्कार बंद कर दिया जाए, तो दलित लेखक आपस में बंटने बंद हो जायेंगे। कम से कम इसके बंद होने से दलित लेखकों को कोई नुकसान नहीं है, क्योंकि उन्हें यह मिल ही नहीं रहा है। लेकिन आजकल पुरस्कार मिल रहा है। अगर डा. धर्मवीर जिंदा होते, तो वे अपने स्टेटमेंट को जरुर क्वालिफाई करते। पुरस्कार पाने की खलनायकी की

श्रेणी में छपास की भूख, पाठ्यक्रम में शामिल होने की ललक, जेबी संगठन का मोह और लोकप्रियता के लिए चारणगिरी को एक साथ जोड़ लें अगर, तो साहित्य के प्रति खलनायकी की तस्वीर मुकम्मल हो जाती है, क्या नहीं? मेरी मान्यता है, जब व्यक्ति साहित्य और समाज के उज्ज्वल भविष्य के लिए समर्पित होगा, तो अपनी विरासत की शृंखला बनाने के लिए उसे किसी तिकड़मबाजी की जरुरत नहीं रह जायेगी। उसका अपना सृजन स्वतः समृद्ध विरासत का प्रबल संवाहक हो जायेगा। लेकिन इसके लिए सिद्धों, नाथों और संतों जैसा सतत संघर्ष और इंसानी कर्तव्य के प्रति समर्पण जरुरी है। नहीं भूलना चाहिए कि किसी फल की लालसा/प्राथमिकता सारे किए धरे को गुड़ गोबर कर डालती है।

दलित से जुड़ी ऐसी बहस का कोई अंत नहीं है। फिलहाल, साहित्यिक पक्ष पर लौटते हैं और दलित लेखन से जुड़े विभिन्न पहलुओं पर बात करते हैं। दलित साहित्य में जो देखा, जो सहा-वही कहा, यह एक तर्क आधारभूत सूत्र का काम करता है। इस संबंध में गंगाधर पानतावणे की टिप्पणी काबिल-ए-गौर है। दलित साहित्य हमारे समाज का दर्पण है। जो हमने देखा, अनुभव किया, भोगा, जाना, समझा, उसका अंकन उत्कृष्टतापूर्ण हुआ। दलित्व का निर्मूलन हमारे साहित्य का हथियार है, इसलिए सर्वव्यापी क्रांति का वह आह्वान करता है। यह दलित्व के निर्मूलन की सोच काबिल ए तारीफ है। यह अम्बेडकरवादी चिंतन-दर्शन की पोषक है और समय की माँग भी है। निस्संदेह, साहित्य सृजन में इन पहलुओं की महत्वपूर्ण भूमिका है। लेकिन इसे जैसे का तैसे परोस देना साहित्य नही हो जाता। साहित्य में जीवन का यथार्थ ज्यों का त्यों नहीं आता, बल्कि वह पुनर्सृजित होकर आता है। इसलिए साहित्य का पुनर्सृजन होता है। पुनर्सृजन होना चाहिए लेकिन कैसे? इसे तय करने के लिए जरुरी नहीं है कि परंपरागत साहित्य के मौजूद टूल ही इकलौते विकल्प हैं। दलित साहित्य के सृजनकार परंपरागत साहित्य से जुदा, अपने नए और कोई भी तर्कयुक्त टूल ईजाद कर सकते हैं, जो उनकी सशक्त अभिव्यक्ति के लिए सार्थक ही नहीं, अग्रगामी भी हों।

ऐसा नहीं है कि दलित साहित्य में सृजन व पुनर्सजन नहीं हुआ, जरुर हुआ है। अगर इसे कविता के संदर्भ में देखें तो पाते हैं दस में एक कविता सृजन या पुनर्सृजन की कसौटी से गुजरी हुई नजर आती है। शेष इश्तिहार जैसी सपाटबयानी, आक्रोश की फतवेबाजी, उत्पीड़न का उद्गार या समाचार पत्रों की कतरने जैसी बनकर रह गई हैं। इनके उदाहरण प्रस्तुत करना जोखिम का काम है। इसलिए बानगी के लिए सृजन व पुनर्सृजन की श्रेणी में आने वाली कुछ सहज सुलभ कविताओं पर बात करते हैं। (क) वर्ण-धर्म की वैचारिकी के सुडोल उरोजों का जहरीला दूध पीकर विखंडन के खप्पर भरने वाली डायन है। हमारे देश की जाति प्रथा। (ख) हमारे गाँव में भी कुछ हरि होते हैं कुछ जन होते हैं। जो हरि होते हैं वे जन के साथ न उठते हैं न बैठते है न खाते हैं न पीते हैं। यहाँ तक कि जन की परछाई तक से परहेज करते हैं। (ग) जिस दिन संगीनों के सामने खड़ा होना सीख जाओगे, जेलों को अपना घर समझने लगोगे समझ लो उस दिन उनके गढ़े किले ध्वस्त हो जायेंगे।

इस कड़ी में पवन करण की कविता का उल्लेख करना जरुरी महसूस हो रहा है। इस कविता में एक पिता अपनी कम उम्र की पुत्री को न डराता है और न ही उसे किन्हीं प्रतिबंधों से लादता है। वह उसके स्वाभाविक जीवनयापन के लिए उसका मार्गदर्शन कुछ ऐसे करता है-

मेरी बेटी प्रेम करे, तो थोड़ा रुक कर।

क्योंकि प्रेम करने की सही उम्र नहीं यह।
मेरी बेटी काँपते हुए और डरते हुए नहीं,
इस डर पर संभल कर चलते हुए करे प्रेम
अपने भीतर अद्‌भुत स्वाद लिए बैठे
इस प्रेम के फल को हड़बड़ी में नहीं
धैर्य के नमक के साथ चखो।
यदि इस सब के बावजूद
उससे कोई गलती होती है तो हो जाए
इसके पीछे उसे बचाने के लिए
मैं तत्पर खड़ा रहूँगा।

यह कदम साहित्य जिम्मेदारी और समाज के प्रति उदासीनता व इसकी धार का कुंद होना स्वाभाविक है। ऐसी उदासीनता ही विचारधारा के अंत की घोषणा जैसे विचार को जन्म देती है। यह साहित्य पर भी अक्षरशः लागू होती है।

जो देखा, सहा-वही कहा के समर्थन में अक्सर स्वानुभूति को भी एक अन्य प्रमुख टूल की तरह इस्तेमाल किया जाता है। इस विषय पर कोई दो राय नहीं हो सकती कि कोई भी व्यक्ति अपने जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव स्वानुभूति के आधार पर बेहतर तरीके से अभिव्यक्त कर सकता है। लेकिन यह गंभीर विचारणीय विषय है कि जो देखा, सहा-वही कहा के सूत्र को साहित्य की हर विधा की गुणवत्ता का मूलाधार माने जाने की जिद/जबरदस्ती और इसके पक्ष में दिए जाने वाले अजीबोगरीब तर्क निराश करते हैं, परेशान करते हैं। इस संबध में मेरा मात्र एक ही सवाल है। क्या विश्वविद्यालय में पढ़ाने वाला कोई प्रोफेसर, कोई शिक्षक, स्नातक या स्नातकोत्तर डिग्री धारक कोई व्यक्ति अपनी कहानी, कविता, उपन्यास आदि के संबंध में इस सूत्र को मात्र दलित होने (जातीय पहचान) के दम पर अपनी रचना की गुणवत्ता का प्रमुख पैमाना बनाने का विशेषाधिकार रख सकता है? मुझे नहीं लगता कि किसी भी विवेकशील व्यक्ति को इसके समर्थन में खड़ा होना चाहिए। लेकिन हैरत की बात है कि ऐसा बराबर हो रहा है। निस्संदेह, इस विषय पर गंभीरता से विचार किए जाने की जरुरत है।

स्वानुभूति की इस कड़ी में डॉ. कर्दम कहते हैं- ''ब्राह्मणवाद विरोध दलित साहित्य की पहचान है। तमाम विरोधों के बीच एकता का एक बड़ा सूत्र है ब्राह्मणवाद एवं सामंतवाद का विरोध।'' इस वक्तव्य की रोशनी में कोई व्यक्ति यदि सवाल पूछ बैठे कोई ब्राह्मण यदि ब्राह्मणवाद व सामंतवाद का ईमानदार विरोध करे, तो क्या उसे दलित साहित्य में स्वीकार्यता मिलेगी? हम इसका उत्तर जानते हैं, मगर किसी निष्कर्ष पर पहुँचने और वैचारिक अंतर्विरोध को समझने के लिए पुनः डा. कर्दम द्वारा डा. सुदर्शन मजीठिया के कई प्रश्नों में से एक, के उत्तर को बानगी के रूप में समझते हैं। मजीठिया- ''क्या विधवा पर कविता लिखने के लिए विधवा होना चाहिए?'' डा. कर्दम का उत्तर- ''सवाल यह है कि विधवा पर लिखने वाला व्यक्ति कौन है? उसकी सोच कैसी है? वह विधवा को किस नजर से देखता है? क्या वह विधवा के बिखरे हुए केश, सफेद वस्त्र, श्रृंगार विहीन चेहरे और आंसुओं को देख द्रवित होता है और उसके प्रति करुणा व्यक्त करता है? या उसके उद्धार के नाम पर उसके साथ विवाह कर समाज का हीरो और उसका देवता बन उसका दोहन करना चाहता है? या उसको ईजी गोइंग (सहज उपलब्ध) मानकर उसके रूप लावण्य पर मोहित होता है या समाज द्वारा उस पर किए गए अन्याय के विरोध में उसके पक्ष में खड़ा होकर समाज से लड़ता है, और उसको भी इस दकियानूसी और रूढ़ समाज की विसंगतियों को ढोने की बजाए उनके खिलाफ संघर्ष की प्रेरणा देता है? यही अंतर दलितों पर लेखन और दलित लेखन में है।''

इस जबाब के चलते प्रश्न उठता है, लिखने की पात्रता तय करने की यह कवायद सबके लिए एक समान है या दलित समाज का लेखक इससे बाहर है? वैसे उत्तर जानते हुए ऐसे प्रश्न के कोई मायने ही नहीं रह जाते। चलिए आगे बढ़ते हैं जाति के आधार पर किसी भी व्यक्ति की नैतिकता, ईमानदारी व उसका चरित्र-चित्रण करना भारतीय समाज का परंपरागत कोढ़ है। परंपरागत समाज इस प्रवृत्ति का बड़ा अपराधी है और दलित साहित्यकार/समाज भले ही इससे पीड़ित है, मगर वह भी इस अपराध से मुक्त नहीं है। क्योंकि वह भी उसी समाज का अनुसरण करता है जो सामाजिक असमानता, उत्पीड़न व अन्याय के सारे विवादों की जड़ है। अनैतिकता और जातिवाद के कोढ़ को बाबा साहब के शब्दों में समझते हैं हिन्दूओं में इस बात की क्षमता ही नहीं है कि वे अपनी जाति से भिन्न अन्य जाति के व्यक्ति के गुणों का सही मूल्यांकन कर सकें। गुणों की सराहना तभी होती है, जब वह व्यक्ति अपनी जाति का हो। उनकी पूर्ण नैतिकता इतनी ही निम्न कोटि की है, जितनी जंगली जातियों की होती है। आदमी कैसा भी हो, सही या गलत, अच्छा या बुरा, बस अपनी जाति का होना चाहिए।

कहने की जरुरत नही कि दलित साहित्य का स्वानुभूति का बैरोमीटर जाति के आधार पर ही काम करता है और इसके अनुकूल या प्रतिकूल रीडिंग देता है। साहित्यकार दलित है, तो उसकी सोच ठीक और गैर दलित है तो संदिग्ध/गलत। जातिवादी लाठी से जबरन सबको हांकना कहां तक जायज है? इस कसौटी पर अगर दलित जातियों के अंदर मौजूद ब्राह्मणवाद को परखें, तो तस्वीर कम डरावनी नहीं है। क्या दलित साहत्यकारों ने अपने साहित्य में लेखन की पात्रता के लिए दलित वर्ग के अंदर आने वाली जातियों को ही अंतिम पैमाना नहीं बना लिया है? जरा सोचिए, वर्ग विहीन व जातिविहीन समाज निर्माण का यह जाति आधारित यानी जातिवादी फार्मुला कितना तर्कयुक्त है और कितना लोकतांत्रिक? क्या यह वर्णवादियों की तर्ज पर साहित्य में एकाधिकार व वर्चस्ववाद का नया संस्करण नहीं हैं? क्या दलित साहित्यकारों की नैतिकता का आधार भी परंपरावादी समाज की तर्ज पर जाति तक सिमट कर नहीं रह गया है? इन प्रश्नों का एक ही उत्तर है- दलित साहित्यकारों की नैतिकता भी कट्टर हिन्दुओं जैसी ही जातिवादी है। जैसा ऊपर उल्लिखित बाबा साहब की कोटेशन बताती है और साहित्य की जंग जातियों के दो अलग-अलग समूहों की जंग है, जिसमें सृजन व समाज निर्माण की संभावनाएं ना के बराबर हैं।

स्वानुभूति को केन्द्र में रखकर जैसे तर्क डा. कर्दम ने विधवा पर लिखने के संबंध में दिए हैं, कमोवेश ऐसे ही तर्क हर दलित साहित्यकार के एकाधिकार/विशेषाधिकार के रूप में पेमेंट हो गए हैं। आइए, नैतिकता व विज्ञानवाद की कसौटी पर दलित/जाति आधारित स्वानुभूति की अवधारणा का थोड़ा माइक्रो एनालिसिस करते हैं। (क) क्या कोई पुरुष दलित साहित्कार, चूँकि वह स्त्री नहीं है, स्त्री पर लिखने की पात्रता रखता है? (ख) क्या दलित समाज के अंतर्गत्त आने वाली किसी एक जाति का व्यक्ति अन्य किसी भी दूसरी जाति पर लिखने का नैतिक आधार रखता है? (ग) क्या खेती-किसानी से जुड़ा व्यक्ति पशुओं की खाल उतारने वाले समुदाय के जीवन पर लिख सकता है? (घ) क्या गटर के अंदर घुसकर काम करने वाले के जीवन पर वह व्यक्ति लिख सकता है, जो सिर्फ सड़कों या गली मुहल्ले की सफाई तक सीमित है? (ड) क्या कोई गटर में काम करने वाला व्यक्ति उस परिवार के दर्द पर लिख सकता है, जिस परिवार के सदस्य की मौत

गटर में हुई है? कहने की जरुरत नहीं, दलित अपने आप में कोई एक जाति नहीं है, यह अनेक जातियों का समुच्चय है और इन जातियों के स्वानुभूति के स्वर व स्तर निस्संदेह अलग हैं, क्या नहीं हैं? क्या डा. कर्दम का लेखन की पात्रता तय करने का पैमाना अपने आप में अ-तार्किक व भ्रामक नहीं है? स्वानुभूति को लेकर दलित साहित्यकारों द्वारा स्थापित दबंगई को लेकर जितने तर्क गढ़े गए हैं, उनके विरुद्ध अनेक तर्क दिए जा सकते हैं, और प्रश्नों की ऐसी उत्तर-श्रृंखला साहित्यकार को अपनी पूरी जाति पर लिखने तक से अलगाकर अंततः मात्र खुद पर लिखने तक सीमित कर सकती है, क्या नहीं? क्या दलित साहित्य के पैरोकारों को चुनौती स्वीकार है या फिर.... ?

स्वानुभूति व संवेदना का यह एक पक्ष है। इसका एक दूसरा पक्ष भी है, जो और अधिक गहन चिंतन की माँग करता है। जिस स्वानुभूति या संवेदना की बात ऊपर कही जा रही है, वह लेखक की संवेदना है, पीड़ित की नहीं। अगर यह पीड़ित की संवेदना होती, तो पीड़ित कभी का अपनी पीड़ा की दीवारों को तहस-नहस कर चुका होता जैसा बाबा साहब दावा करते हैं कि गुलाम को गुलामी का एहसास करा दो, तो वह अपनी गुलामी की जंजीरों को खुद-ब-खुद तोड़ डालेगा। लेकिन ऐसा हो नहीं रहा है। लेखन में पीड़ित की संवेदना न होना, लेखक और पीड़ित को दो अलग-अलग छोर पर लाकर खड़ा कर देता है। इसे राजनेता और आम जनता के आपसी संबंध के रूप में बेहतर समझ सकते हैं।

संदर्भ :

1. बाबा साहेब डा. आंबेडकर संपूर्ण वाड्म, खंड-4 पृष्ठ 228
2. वही पृष्ठ 228
3. (कांचा इलैया, संपादन मुकेश मानस, मैं हिन्दू क्यों नहीं हूँ, पृष्ठ 104)
4. वी.टी. राजशेखर, ए मैन दैट डिस्ट्रोयड दलित आईडेन्टीटी
5. डा. तुलसीराम, राष्ट्रीय सहारा, दिनांक 13.08.2006
6. वही पृष्ट 44
7. डा. धर्मवीर जय भंगी, जय चमार (खण्ड एक) जूठन का लेखक कौन! मुहिम प्रकाशन, हापुड़ 245101

   डा. धर्मवीर जय भंगी, जय चमार (खण्ड एक) जूठन का लेखक कौन! मुहिम प्रकाशन, हापुड़ 245101 पृष्ठ 25
8. गंगाधर पानतावणे, युद्धरत आम आदमी- अक्टूबर दिसंबर 96, अंक-26, पृष्ठ28
9. डा. तेजा सिंह, अंबेडकरवादी साहित्य की अवधारणा, प्रकाशक-लोकमित्र, शाहदरा, दिल्ली-110032, अपनी बात से।
10. जय प्रकाश लीलवान, अब हमें ही चलना है (काव्य संग्रह), पृष्ठ 55.
11. मलखन सिंह, सुनो ब्राह्मण (काव्य संग्रह), पृष्ठ 34
12. कुसुम वियोगी-अंधेरा चीरती रोशनी (कविता संग्रह), पृष्ठ 6
13. जय प्रकाश कर्दम, दलित साहित्य-सामाजिक बदलाव की पटकथा, अमन प्रकाशन, कानपुर (उ.प्र.) पृष्ठ 80
14. वही भूमिका
15. वही पृष्ट 12
16. डॉ. अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्म, खंड-1, पृष्ठ 78
17. डा. तेज सिंह, अंबेडकरवादी साहित्य की अवधारणा, प्रकाशक-लोकमित्र, शाहदरा, दिल्ली-110032, अपनी बात से।
18. वही

शोध-पत्र

आरती
शोधार्थी, हिन्दी
हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय
धर्मशाला-176215

सुशीला टॉकभौरे और जयप्रकाश कर्दम की कहानियों में आंबेडकरवाद

सुशीला टाकभौरे जी का जन्म 4 मार्च 1954 ई. में जिला होशंगाबाद (म.प्र.) के ग्राम बानापुरा (सिवनी मालवा) में हुआ। आपने बी.एड. तथा एम.ए. की पढ़ाई नागपुर से और पी.एच.डी. की उपाधि भी वहीं से प्राप्त की सुशीला ताकभौरे जी को हिन्दी जगत में दलित महिला कथाकार के रूप में जाना जाता है। अनेक संघर्षों से जूझते हुए भी उन्होंने कभी अपनी लेखनी को विराम नहीं दिया और लगातार लिखती रही। उन्होंने अपने लेखन में दलित शोषित वर्ग के लोगों की समस्याओं, दलित स्त्री की समस्याओं, संघर्षों और प्रतिरोध को अपनी लेखनी का विषय बनाया। उन्होंने नाटक, कहानी एवं काव्य आदि अनेक क्षेत्रोत्र में अपनी कलम को आजमाया है। आपके टूटता वहम, संघर्ष, जरा समझो (कहानी संग्रह) प्रकाशित हो चुके हैं। साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में स्त्रजनात्मक गतिविधियाँ, दलित समाज और नारी की स्थिति पर परिवर्तनवादी आंदोलन में वैचारिक सक्रियता, आकाशवाणी से समय-समय पर परिचर्चा प्रसारित होती रही है। म.प्र. के मुख्यमंत्री दिग्विजय सिंह द्वारा (म.प्र.) दलित साहित्य अकादमी विशिष्ट सेवा सम्मान एवं पुरस्कार भी मिला। रमणिका फांउडेशन से 'सावित्री बाई फुले' सम्मान एवं पुरस्कार मिला।

जयप्रकाश कर्दम हिन्दी साहित्य जगत के सुप्रसिद्ध दलित साहित्यकार हैं। कर्दम जी के लेखन की शुरुआत पत्रकारिता 'दलित साहित्य' (वार्षिकी) से मानी जाती है। दलित साहित्य के रचनाकार जयप्रकाश कर्दम का जन्म 05 जुलाई 1958 को उत्तर प्रदेश के गाजियाबाद जिले के इन्दरगढ़ी गाँव में एक साधारण से परिवार में हुआ। कर्दम जी अपना प्रेरणा स्त्रोत आंबेडकर जी और मैक्सिम गोर्की को मानते है। आपने दर्शनशास्त्र, हिन्दी, इतिहास इन तीन विषयों में एम.ए. की डिग्री तथा हिन्दी विषय से आपने पी.एच.डी. उपाधि प्राप्त की। आपके दो संग्रह 'तलाश' और 'खरोच' प्रकाशित हो चुके हैं। कर्दम जी को अनेक सम्मानों से भी नवाजा गया है। कर्दम जी के जीवन पर आम्बेडकर जी के सिद्धांतों एवं उनकी विचारधारा का प्रभाव प्रखर रूप से पड़ता दिखाई देता है। यही विचारधारा इनकी कहानियों में भी परिलक्षित होती है। गोर्की और प्रेमचंद के संघर्षपूर्ण जीवन से आपको प्रेरणा मिली और आज वह एक साहित्यकार के रूप में स्थापित हैं।

डॉ. जयश्री शिंदे जी के अनुसार ''अपमानित, अमानवीय, वैज्ञानिक अन्याय एवं असमानता, सामाजिक संरचना से पीड़ित मनुष्य की इसी जन्म में क्रांतिकारी आंदोलन से मुक्ति करके समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व एवं न्याय के आदर्श समाज में मानव और मानव (स्त्री-पुरुष समानता) के

बीच सही संबंध स्थापित करने वाली नई क्रांतिकारी मानवतावादी विचारधारा को आंबेडकरवाद कहा जाता है।''

आंबेडकरवाद बीसवीं सदी का क्रांतिकारी दर्शन है। आंबेडकरवाद दलित एवं बहुजनों के साहित्य की ऊर्जा है। आंबेडकरवाद आनेवाली सदियों को प्रकाशमान करनेवाला लोकधर्मी विचार है। बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय आंबेडकरवाद का ध्येय है। आंबेडकरवाद मानव को विचार स्वात्रंत्र्य की दीक्षा देता है और मानवीय मूल्यों की रक्षा करने का ऐलान करता है। दुःख का एहसास दिलाते हुए दीन-दुखियों की वेदना दूर करने के लिए बहुजन साहित्यिकों की संवेदना को जगाता है। आंबेडकरवाद बहुजन साहित्य का प्राणभूत मूल्य है।''

वाद शब्द का अर्थ कहना, बोलना, कथन, उक्ति, तर्क-वितर्क, व्यवस्थित मत या सिद्धांत से लिया गया है। इस तरह से आंबेडकर के कथन, उक्ति एवं सिद्धांतों को आंबेडकरवाद कहा गया है। आंबेडकर जी के सिद्धांत दलित वर्ग के लोगों में चेतना जगाने का काम करते हैं और दलित वर्ग के लोगों की आवाज को सदियों से दबा दिया गया था। उन लोगों को वाणी देने का काम आंबेडकरवाद करता है। आंबेडकर जी ने मूल कथन दिया था- शिक्षित बनो, संगठित रहो और संघर्ष करो। आंबेडकर जी के द्वारा दिए गये इस मूल कथन को सभी वर्ग के लोगों को अपने जीवन में आत्मसात कर लेना चाहिए। तभी समाज की उन्नति हो सकती है। आंबेडकर जी ने मुनष्य की स्वतंत्रता और समानता पर अधिक बल दिया था। उनका कहना था कि सभी वर्ग के लोगों में बंधुत्व की भावना का होना बहुत जरुरी है। तभी समाज से जातिभेद की दीवार को हमेशा के लिए गिराया जा सकता है। आम्बेडकर जी के सिद्धांतों एवं विचारों को सुशीला टॉकभौरे और जयप्रकाश कर्दम की कहानियों में देखा जा सकता है।

सुशीला टॉकभौरे की कहानी 'आतंक के साये में' स्वतंत्रता का रूप दिखाई देता है। भारत के संविधान में मनुष्य को अपने विचार व्यक्त करने की आजादी दी गई है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह किसी भी वर्ग, समुदाय एवं अमीर या गरीब ही क्यों न हो वह अपने विचारों को व्यक्त कर सकता है। प्राचीन समय में अस्पृश्य समाज के लोगों को बोलने का अधिकार नहीं था। अगर निम्न वर्ग का व्यक्ति अपनी बात रखना भी चाहता था, तो उसे चुप करा दिया जाता था और उसके साथ इतने शोषण एवं अत्याचार किये जाते थे कि वह अपने मनुष्य होने के अस्तित्व को ही भूल गया था। उसके साथ जानवरों जैसा व्यवहार किया जाता था। इस व्यवस्था को कहानी की पात्र शीला के माध्यम से देखा गया है। जो हमेशा डरी सहमी रहती है। लेकिन जब से उसने आंबेडकर जी के विचारों को जाना एवं समझा है, तब से वह किसी से नहीं डरती है। उसमें तर्क-वितर्क एवं सोचने-विचारने की समझ एवं शक्ति विकसित होने लगी है। ''मैं कबीर, रैदास, पेरियार, फुले, बाबा साहब डॉ. आंबेडकर के जीवन-संघर्ष और उनकी विचारधारा को समझने लगी हूँ। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता हमेशा सबको रही है। चाहे वह गुलाम, अछूत या फांसी के तख्ते पर खड़ा कैदी ही क्यों न हो।''

'बदला' कहानी में दिखाया गया है कि निम्न वर्ग के लोगों को भी समानता का अधिकार मिल गया है। कोई भी उनके साथ भेदभाव नहीं कर सकता है। अब समाज में किसी प्रकार का कोई भेदभाव नहीं है। शहरों की तरह गाँव में भी समानता आने लगी है। होटल हो या कोई कथा-कीर्तन करने की जगह, सभी

एक साथ बैठ सकते है। कोई उन्हें बैठने से मना नहीं कर सकता क्योंकि संविधान में उन्हें यह अधिकार लिखित रूप में दिए गए है। ''काहे का अंतर है...?'' कल्लू की मां बोल पड़ी- ''आजकल तो सब बराबर हैं देश के सब नेता यही कहते हैं.... महात्मा जी भी...। कथा-कीर्तन करने वाले भी यही कहते हैं.....।''

'चुभते दंश' कहानी में तक्षशिला वाघमरे जो निम्न वर्ग की शिक्षिका है। स्कूल में जिसके साथ भेदभाव किया जाता है। लेकिन वह समाज में सम्मान एवं समानता के साथ जीवन जीना चाहती हैं। उसने अपने आपको मजबूत कर लिया है। वह अब किसी से नहीं डरती है और न ही घबराती है। उस दिन के आत्मग्लानि से तक्षशिला में दृढ़ विश्वास एवं साहस आ गया है। अब वह हर छोटी से छोटी बात पर अपनी पैनी दृष्टि रखती है। उसके विरुद्ध हो रही बातों का भी वह बखूबी जवाब देती है। सभी वर्ग के लोग समाज के नागरिक है और सभी को समानता एवं सम्मान पाने का पूरा अधिकार है। आंबेडकर जी ने कहा था कि यदि समाज को विकास के पथ पर आगे ले जाना है। तो सभी मनुष्यों को एक ही दृष्टि से देखने की आवश्यकता है।'' अब वह हर बात पर पैनी नजर रखती है और अपने विरुद्ध कही बातों का तीखा जवाब देती है- ''हमें भी समता-सम्मान का अधिकार है।''

'जरा समझो' कहानी में बंधुत्व की भावना देखने को मिलती है। आंबेडकर जी का कहना था कि प्रत्येक मनुष्य के अंदर भाईचारे की भावना का होना बहुत जरुरी है। देश की उन्नति के लिए यह जरुरी है। समाज में अलग-अलग पंथ एवं मजहब को मानने वाले लोग रहते हैं। जब तक उनके भीतर मैत्रीभाव नहीं होगा, तब तक देश आगे नहीं बढ़ सकता है। भेदभाव को जड़ से खत्म करना है, तो लोगों में बंधुत्व की भावना का होना बहुत जरुरी है। समाज में फैली जातियों ने एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से अलग कर दिया है। अगर समाज में जाति व्यवस्था जैसी कोई चीज न हो, तो मनुष्य आपस में मिलजुल कर रह सकता है। चाहे फिर वह किसी भी मजहब या पंथ का ही क्यों न हो। अलग-अलग मजहब को मानने वाले लोग भी एक साथ मिलकर रह सकते हैं। ''जाति धर्म की बातें ही इंसानों को अलग-अलग बाँटती हैं। यदि हम इनसे ऊपर उठकर सोचें, तो आपसी मतभेद ही न रहे। हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, बौद्ध सब आपस में हिल-मिल कर रह सकते हैं। सब अपना धर्म मानते हुए आपस में प्रेम के साथ रह सकते हैं, मगर इसके लिए मानव धर्म को मानने वाले विचार भी होने चाहिए। इंसानियत की भावना भी जरुरी है।''

जयप्रकाश कर्दम की कहानी 'गोष्ठी' है और इस कहानी में कहा गया है कि सभी अछूत वर्ग के लोगों को मिल-जुलकर एवं संगठित होकर रहना चाहिए। इस कहानी में दलित लेखकों के बारे में बताया गया है कि जो भी लेखक अच्छा काम करता है या अच्छा लिखता है समाज में उसका नाम होता है। फिर चाहे वह दलित लेखक ही क्यों न हो। अब समय पहले जैसा नहीं रहा है। सभी वर्ग के लोगों को अपने अंदर के जातिभेद को मिटाकर आगे बढ़ने की जरुरत है। अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए उन्हें संगठित होकर संघर्ष करना होगा और इस जातिभेद की दीवार को हमेशा के लिए गिराना होगा। ''अब समय अपने अन्दर के जाति-भेद को भुलाकर उससे उपर उठने का है। जब तक हम अपने अन्दर का जाति भेद नहीं मिटाते, तब तक हम एक नहीं हो सकते और एक हुए बिना अपने अधिकारों के लिए सार्थक संघर्ष नहीं कर सकते। यह एकता आएगी आपस के जाति भेद की दीवार गिराने से।--

'तलाश' कहानी में देखा गया है कि समाज में सभी वर्ग के लोग चाहे वह सवर्ण हो या अवर्ण, सभी को समानता का अधिकार मिल गया है। समाज अब बदलता जा रहा है और सभी वर्ग के लोगों को समाज के अनुसार बदल जाना चाहिए। इस तरह की बातें पुरानी हो चुकी है और समाज से छुआछूत खत्म हो गया है। आम्बेडकर जी ने समाज को चलाने के लिए संविधान का निर्माण किया और उसी संविधान में लिखा है कि समाज में कोई भी व्यक्ति छोटा-बड़ा नहीं है। इस तरह के भेदभाव को सभी वर्ग के लोगों को भुला देना चाहिए। जब संविधान में सभी वर्ग के लोगों को बराबरी का अधिकार मिला है, तो हम या आप कौन होते हैं इसको नकारने वाले। इसलिए बेहतर यही होगा कि सभी वर्ग के लोगों को अपने मन से छुआछूत की भावना को हमेशा के लिए खत्म कर देना चाहिए। ''आपकी बात कुछ जंच नहीं रही मुझको तो गुप्ता जी! हमें इस तरह की बातें नहीं सोचनी चाहिए। ये बातें बहुत पुरानी हैं और पीछे छूट चुकी हैं। हमारा संविधान, जिससे हमारा देश चलता है, उसकी नजर में सब बराबर हैं। कोई किसी से छोटा-बड़ा या छूत-अछूत नहीं है।

अस्तु, कह सकते हैं कि सुशीला टॉकभौरे और जयप्रकाश कर्दम दोनों ही दलित लेखक हैं और दोनों ही लेखक आंबेडकर जी की विचारधारा से प्रभावित हुए हैं। आंबेडकर जी का प्रभाव उनके जीवन पर देखा जा सकता है। इसलिए उन्होंने आंबेडकर के सिद्धान्तों को अपने कहानी संग्रह में दिखाने का प्रयास किया है। दलित वर्ग के लोगों पर सदियों से अत्याचार होते रहे हैं और उनका शोषण किसी न किसी रूप में दिखाई देता है। अपनी इस वेदना और पीड़ा को व्यक्त करने के लिए ही दलित वर्ग के लोगों ने साहित्य को माध्यम बनाया है और आंबेडकर जी के विचारों को अपने कहानी-संग्रह के द्वारा दिखाया है, जिससे सभी वर्ग के लोग आंबेडकर जी के विचारों से अवगत हो सके और वह भी अपने अधिकारों की पहचान कर सके। इसलिए आंबेडकर जी ने निम्न वर्ग के लोगों को संविधान के माध्यम से उन्हें अनेक अधिकार दिलाए हैं, जिससे वह अपने ऊपर हो रहे अत्याचारों का विरोध कर सके।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. तेज सिंह, दलित समाज और संस्कृति, पृष्ठ संख्या 14-15
2. तेज सिंह, आंबेडकरवादी विचारधारा और समाज, पृष्ठ संख्या 88
3. सुशीला टाकभौरे, जरा समझो, पृष्ठ संख्या 12
4. सुशीला टाकभौरे, संघर्ष, पृष्ठ संख्या 60
5. सुशीला टाकभौरे, संघर्ष, पृष्ठ संख्या 111
6. सुशीला टाकभौरे, जरा समझो, पृष्ठ संख्या 21
7. जय प्रकाश कर्दम, खरोंच, पृष्ठ संख्या 78
8. जय प्रकाश कर्दम, तलाश, पृष्ठ संख्या 27

शोध-पत्र

गुलांचो कुमारी
शोधार्थी, विनोबा भावे विश्वविद्यालय
हजारीबाग, झारखण्ड

कुड़माली लोकगीतों में स्त्रियों का योगदान

साहित्य यदि जीवन का प्रतिबिम्ब है, तो लोक साहित्य उस अंचल के जनजीवन का प्रतिबिंब है। लोक साहित्य की सबसे आदि विधा लोकगीत ही है, जिसका लोक जीवन से घनिष्ठ संबंध है। लोकगीत का प्रारम्भ लोक कथाओं से भी प्राचीन है। आदिम युग से ही लोकगीतों का प्रचलन चला आ रहा है। अतः किसी भी राज्य के लोक साहित्य को समझने के लिए सर्वप्रथम उस राज्य के विभिन्न पहलुओं और क्रियाकलापों पर गौर करना नितांत आवश्यक हो जाता है। सामान्यतः लोकगीत तथा लोक कथा को उस प्रदेश की लोक परम्परा के अधीन ही मान्यता प्राप्त होती है। यही कारण है कि किसी भी राज्य विशेष के लोगगीत को लोक साहित्य का प्रमुख अंग माना गया है।

छोटानागपुर पठार आदिकाल से आदिवासियों का निवास स्थान रहा है, जहाँ हो, मुंडा, खड़िया, पहाड़िया, संथाल, उराँव, आदि जनजातीय समुदायों के साथ कुड़मी जनजाति भी आदि काल से साथ-साथ आपसी सामंजस्य के साथ रहते आ रहे हैं। यहाँ लोगों के लिए पहाड़ी झरनों के जैसा है लोकगीत जो मानव जीवन को सद्भावना संवेदना और सरलता से सीचता है, जैसे भीषण गर्मी में झरना स्त्रोत और भी भभक उठता है। उसी तरह दुख से पीड़ित संकट से चिंतित और निराश स्त्रियों में आशा का संचार भर देता है लोकगीत। जीने की अदम्य ऊर्जा लेकर आता है लोकगीत।

झारखण्ड क्षेत्र में भाषाओं के नाम स्थानवाची न होकर जाति या समुदाय सूचक हैं। जहाँ कुड़मी आदिवासी की अपनी समृद्ध भाषा कुड़माली है। यहाँ रहने वाली कुड़मी आदिवासी महिलाएं किसी भी पर्व त्योहार में अपनी खुशी जाहिर करने तथा उस माहौल को और अधिक रंगीन बनाने के लिए अपने मन मुताबिक कुछ लोकगीत गुनगुनाने लगती हैं। यही वजह है कि लोकगीत कुड़मी समाज के हर्ष विषाद, जीवन मरण आदि के साथ प्रमुख रूप से जुड़ा हुआ है। जीवन का कोई भी पहलू ऐसा नहीं, जो लोकगीतों की सीमा में ना आता हो। खेल में कोड़ी पछार करने वाली औरतें, धान रोपती औरतें, करम परब करती औरतें, जतरा खेलती औरतें, बच्चों को सुलाने वाली माँ, विदाई के समय में रोती हुई औरतें, मंगल गान करने वाली औरतें, सभी के लोकगीत गाते हुए दिखाई पड़ती है। वास्तव में लोकगीत हमारे जीवन में घटित होने वाले प्रत्येक भावों की संगीतम अभिव्यक्ति है। कुड़मी महिलाओं के लोकगीत छन्दों में किसी प्रकार की बनावट नहीं होती और ना ही उसके कोई नामी रचनाकार ही होते हैं। लोकगीतों की सबसे बड़ी विशेषता यही तो है, कि ये गीत अनादि काल से अनवरत मौखिक रूप से ही सही अपनी सरलता, सहजता एवं मिठास का संगम लिए बहते चले आ रहे हैं।

कुड़माली में लोकगीतों की संख्या बहुत अधिक है। अधिकतर लोकगीतों को महिलाएं ही गाती हैं। आज भी यह गीत लोकमुख में जीवित हैं। कोई भी अनुष्ठान गीत नृत्य के बिना संपन्न नहीं होता। अधिकांश गीत, नृत्य गीत हैं, जिन्हें महिला एवं पुरुष साथ गाकर नाचते हैं। कुड़माली लोकगीतों में जन सामान्य के जीवन-राग, हर्ष-विषाद, आशा-निराशा, स्वप्र एवं आकांक्षा की सुंदर अभिव्यक्ति होती है। उनमें किसानी विशेष संस्कृति, राड़ सभ्यता, राड़ परंपरा की छवि समाहित होती है। छोटानागपुर में राड़ चरित्र कुड़मी कबीला आदर्श का प्रतीक है। कुड़माली जनजाती लोकगीतों की एक और प्रमुख विशेषता है कि अधिकांश गीत प्रश्न-उत्तर नियम में है। छंद विधान के नियम से पूर्णतः मुक्त है। इसके अपने छंद हैं, जो गेय हैं। गीतों के लय द्वारा ही शैलीगत तत्व को पहचाना जा सकता है। कहीं-कहीं स्वतः अलंकारों का प्रयोग हुआ है।

कुड़माली लोकगीतों की दूसरी विशेषता प्रकृति चित्रण है। उधवा, ढप, बिहा, डमकच सरहुल, टुसू नटुआ, डांइड़धरा, जावा, करम, एढेइया, डाबका, बांदना, कुंवारी, झुपान, महराई आदि कुड़माली प्रसिद्ध लोकगीत हैं। इन गीतों का विस्तार नीचे प्रस्तुत है।

करम गीत- करम गीत पूरी तरह प्रकृति और कृषि जीवन पर आधिारित है, जिसे कुंवारी लड़कियाँ गाकर नाचती हैं और उनका साथ अन्य महिलाएं देती हैं। एक उदाहरण देखिए-

इति इति जावा, किया किया जावा

जावा जागउली मांय गो कुड़थि बुनली।

प्रस्तुत गीत में जावा (जो करथी, मक्का, राहड़, गेहूँ, जौ से बनाया जाता है) उगाने और उसे अखड़ा में जगाने का वर्णन हुआ है। इन गीतों में अंकुरोदय, पुनर्विवाह, कृषि कर्म, हास्य-व्यंग, जीवन-यापन की पद्धति का भी उल्लेख रहता है।

विवाह गीत- कुड़माली लोकगीतों में बहू-बेटी के सुख-दुख पर विशेष ध्यान दिया जाता है। लड़की की विदाई दृश्य का वर्णन तथा ससुराल में बहू के सुख-दुख को विशेष महत्व दिया गया है। विशेषतः स्त्री जाति की अल्प शिक्षित महिलाओं की जुबान से इन गीतों का उच्चारण होने के कारण उस समय के पंडित समाज इसे आदर नहीं देते थे, परन्तु सांसारिक जीवन क्षेत्र में इसका महत्व बहुत अधिक था। विवाह में कुड़माली जनजातीय संस्कृति, सामाजिक व्यवहार, खान-पान, दैनिक कार्य, रहन-सहन की छाप परिलक्षित होती है। कुड़माली जनजातीयय समाज में कन्या का महत्वपूर्ण स्थान है। वह परिवार पर बोझ नहीं समझी जाती है। जिस प्रकार बाग की शोभा फूल हैं, उसी प्रकार घर की शोभा बेटी होती है। प्रस्तुत विवाह गीत में इसका कितना मर्मस्पर्शी वर्णन हुआ है देखिए-

ऐहे घारें जबरा, सेंहे घारें जबरा

माएं कहइ बेटी कांहां गेइल?

साड़ी जे लेले मांय गो, आपने साजनवे गो

सेइ सूदें बेटी चजी गेइल।

प्रस्तुत गीत में बेटी की विदाई का वर्णन हुआ है। विदाई के बाद माँ जब उसे खोजती है, कि सब यहीं हैं, मेरी बेटी कहाँ चली गई? तब उसे उत्तर मिलता है कि तुमने जो वर पक्ष से नेग रूप में साड़ी ले ली है उसी का कर्ज चुकाने वह ससुराल गई है। तब माँ और दुखी हो जाती है। उसे पुरा घर सूना लगने लगता है। हर काम में जो बेटी सहयोग करती थी, अब वो काम कैसे होंगे। सोच सोच कर रोती ही जाती है। कभी झाड़ू पकड़ कर रोने लगती है, तो कभी बर्तनों को देखकर कैसे भभक उठती है। इसका निम्न

गीतों में प्रस्तुत है-

बढ़नी लये मां कांदय,

करने घरवा बाढढ़त गो

चुपे रहु मंया ठकुरनिया

पुतइहा घरवा बाढ़तय गो- 1

लोटवा लये मंया कांदय

कने लोटवा मांजतय गो

चुपे रहु मंया ठकुरनिया

पुतइहा लोटवा मांजतया गो- 2

बांदना गीत- कुड़माली के बांदना (साहराई) गीतों में कृषक जीवन का सजीव चित्रण हुआ है। मवेशी हमारे जीवन के हमजोली हैं ही कारण है कि छोटा नागपुर के कृषकों का मुख्य त्योहार के रूप में बांदना पर्व को जाना जाता है। बांदना पूरे देश में ख्यात है और इसमें गाये जाने वाले अहीर गीत पूरे विश्व में प्रसिद्ध एक उदाहरण देखिए-

खोजा खेजइते जाइ, पुछा पुछइते जाइ

कति धुरे फालना का घार।

किसान का घारे भाला तुलसी का चौरा गो

उतरे तो उड़े राजा हांस।

हामरा जे जाये हेली, कुल्ही बल कुल्ही गो

तहर बरदा लानलन घुराइ।

टुसू गीत- टुसू लोकगीत पूरी तरह स्त्री केंन्द्रित गीत हैं। टुसू जो डिनी मां का प्रतीक (धान) है। यह टुसू चौडल धान की देवी को प्रतीक मानकर, स्त्रियों द्वारा पूजा जाने वाला पर्व है। टुसू थापन से लेकर टुसू भासान तक इसमें मुख्य रूप से महिलाएं ही भागीदारी सुनिश्चित करती हैं। हर नेग में वे लोकगीत गाती जाती हैं। एक उदाहरण देखिए-

एक सड़पे दुइ सड़पे तीन सड़पे लग चले

हामर टुसू मांझे चले, बिन बासाते गाल डोले

रांगा साड़ी खंपाई गेला फूला

मह मह गमकइ सय गेंदा फूल।

झुपान गीत- कुड़माली जनजाती समाज के झुपान गीतों में जादू-टोना, तंत्र-मंत्र एवं अंधविश्वास का वर्णन मिलता है।

डमकच गीत- डमकच गीतों में भाव सौंदर्य के साथ-साथ हास्य का पुट भी मिलता है। स्त्रियाँ देवर, ननद, भाभी, से खूब मजाक करती हैं गीतों के माध्म से। यहाँ एक डमकच गीत प्रस्तुत है-

आम्बा का धंपा देखीदा चलाली हो

बड़-बड़ आंबा के खंइछाइं साजली हो

छट-छट आंबा, देइ देवर के भेदाली हो।

डांइड़धरा गीत- डांइड़धरा, ढप आदि गीतों में दार्शनिक भाव झलकता है। इसका अधिक प्रयोग नारी ही करती हैं। नारी ही अपने परिवार को, बच्चों को, लोगों को समझाती हुई अधिक पायी जाती हैं। यहाँ पर दार्शनिक भाव से संबंधित एक लोकगीत का उल्लेख किया है मैंने, जिसे स्त्री पुरुष दोनों गाते हैं हमारे समाज में-

मानुष जनम झींगा फूल रे भाई

साइझें फूटे, बिहाने झड़ी जाइ

तावो फूल नाचे, हांसे पिरथिबिक भालो बांसे

जाइके खने कांदक नीरे भाई।

उक्त गीत मानव जीवन की तुलना झींगा फूल से की गई है। प्रकृति का नियम है उत्थान और पतन। सभी जानते हैं कि मरना सभी को है, फिर भी लोग जीवन को आनंददायक रूप से जी रहे हैं। यही प्रकृति का परम सत्य भी है।

उधवा गीत- कुड़माली जनजातीय समाज के उधवा गीत मुख्यतः प्रेम प्रसंग से जुड़े हैं। यह गीत प्रायः वन-जंगलों या लंबी राह तय करते समय सामूहिक रूप से गाया जाता है। इन गीतों में प्राकृतिक छटा देखकर प्रेमी का हृदय आवेग प्रबल होता है, जिसे प्रश्नोत्तर शैली में व्यक्त किया जाता है। प्रश्न करते हुए प्रेमिका अपने प्रेमी से कहती है-

तोहें जे जाबा पिया
अनिजा बनिजावा हो
हाम्हूं जे संगे लेले चाला
दुखे बिपते संया, पानिया सुसरावब
आरो देबोन आंचरा बिछाई हो।

झूमर गीत- कुड़माली जनजातीय समाज अत्यंत नृत्य प्रेमी है। गीत और नृत्य जीवन के अभिन्न अंग है। छोटा नागपुरी जनजीवन को गीतों और नृत्यों की संस्कृति कहा जाए, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। यदि किसी महिला को अखाड़े में नाचने से वर्जित किया जाए, तो उसकी मनःस्थिति क्या होती है। इसका वर्णन निम्नलिखित गीत में साफ झलकता है-

छट-मट आखाड़ा गटा गांवके भेंसुरा
नाचे गेले मके छलके ना बने गो।
खावा-दावा करि साइंझे,
जाऊं जदि मनेक रिझे
नाहाइ हेती मके उठी बिहाने गो
एक तो फाटल लुगा, इंदे हुंदे गटे भुगा
भींजल देखी मके, साइसे बखाने गो
होलों गांवे बिहा देले कने गो।

पूरे गाँव की सबसे छोटी बहू होने के क्या-क्या नुकसान हैं, सभी का बखान करती हुई स्त्री अपने माता-पिता से पूछती है कि उसके माता-पिता ने उसे ऐसे गाँव में विवाह क्यों किया है, जहां उसे नृत्य करने में असुविधा हो रही है। क्यों उस गाँव के सभी पुरुष उसके भेंसुर हैं, जिनके आगे वह नाच नहीं सकती। क्योंकि कुड़मि समाज में भेंसुर-भवासिन का संबंध अस्पर्श है।

डमकच गीत- रात में जब माघ-फागुन के महीने में महिलाएं एक आंगन में जुट कर डमकच गाते हुए नाचती हैं, तो गीतों से फूटतीं स्वर लहरियाँ कई रंगों में रंगी होती हैं और सुनकर ऐसा लगता है कि पूरा गाँव संगीत की दुनिया में सन गया है। आनंद और खुशी भाव में गांव सुंदरता के आवरण में रात भर के लिए सज जाता है। सदियों से चले आ रहे लोकगीतों में जो निखार, यौवन और उन्मुक्तता है, इसमें गांव के परिदृश्य, पेड़, पौधे, जीव-जंतु सब में एक नई ऊर्जा की धारा संचारित करता है। कुड़माली समाज में झूमर आषाढ़-सावन, भादों-आश्विन, चारों मास में छाए रहता है। पहले राजा-महाराजा के जमाने में रैयातों अर्थात आम आदमी के लिए राजा बाग-बगीचा, तालाब बनवाते थे। रामगढ़ के राजा मानसिंह ने भी तालाब बड़े-बड़े बनवाए जिसका भिंड़ देखने में अनमोल हैं। मानसिंह को अपभ्रंश में राजा बान सिंह से संबोधित करते हुए महिलाएं प्रस्तुत गीत में कहती हैं-

पोखरी खोंडयालय राजा बानसिंग सजनी गे
भिंड़िया दियल अलबेला...2
भिंड़िया दिपलय आलबेला गे सजनी
चाइरो कोना कदमेक का गाछा गे सजनी...2
डरिया फेकलय छतनार गे सजनी
फूलवा फललययय भेकुमार गे सजनी
बोना के भंवरा जोही जाए गे सजनी
रस लेई उड़ल आकाश।

एक और झूमर गीत जिसमें प्रश्नोत्तर शैली में गाकर स्त्रियाँ एक दूसरे से पूछ रही हैं, कहाँ जोड़ा मांदर और धमसा बजता है और कहाँ करताल बजता है। उत्तर मिलता है। अखड़ा में जोड़ा मांदर, धमसा बजता है और राजा के घर में करताल। प्रस्तुत गीत देखिए-

कांहां मालिन बाजे, जोड़ा रे धमसा

सुना मालिनी गो।

कांहां मालिन बाजे करताल...1

आखड़ाहीं बाजे जोड़ा रे धमसा

सुना मालिनी गो

राजा घारें बाजे करताल-2

गिदर गीत- गिदर गीत छोटे बच्चों के लिए जो गीत गाए जाते हैं इसकी परिकल्पना भी स्त्रियाँ ही करती हैं। कुड़माली जनजातीय समाज में ग्रामीण अथवा शहरी, स्त्रियाँ ही अपने मधुर वाणी से इसका गान करती हैं। तेल लगाते वक्त बच्चों को झूला झूलते वक्त स्त्रियाँ जिन मनोरम लोकगीतों को गुनगुनाती जाती हैं, उनका सृजन उन्होंने खुद किया है। बच्चों को खाना खिलाना हो, सुलाना हो या उन्हें बहलाना फुसलाना हो, लोकगीत ही सहज माध्यम होता है। गिदर गीत के सृजन में किसी पुरुष की भूमिका कदापि नहीं मानी जा सकती, बल्कि प्रायः हर अंचल में स्त्री ही इसकी रचना करती है। एक उदाहरण देखिए-

काठी बांधा, दतुन बांधा

आरा बांधा पइना पहाड़ गो

बाबुक गोड़ हाथ बांधा

सकत भेतइ गोटा गात हाड गो।

इस प्रकार कुड़माली जनजातीय लोकगीतों में जन-जीवन का कोई भी ऐसा पक्ष नहीं है, जिसकी सांस्कृतिक अस्मिता का परिच लोकगीतों में नहीं मिलता है। यह कदापि संभव नहीं है कि एक छोटे से आलेख में कुड़माली जनजातीय जीवन में परिव्याप्त लोकगीतों के विशाल भंडार से चुनकर हर प्रकार के नमूने यहाँ दिए जा सकें। किंतु जितने उदाहरण दिए गए हैं, उनमें आप कुड़माली समाज के जनजातीय जीवन एवं उनके धड़कन स्वरूप लोकगीतों का अहसास जरूर पा सकते हैं।

संदर्भ :-

1. आदिवासि कुड़मि समाज, वार्षिक केन्द्रीय अधिवेशन, स्मारिका, पृष्ठ 34
2. छोटा नागपुर- संतालपरगना कुड़मि महासभा, स्मारिका, रामगढ़, पृष्ठ 03
3. डां. एच.एन. सिंह, कुरमाली भाषा और साहित्य, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, पृष्ठ 237
4. रणेन्द्र (सं.) झारखंड एनसाइक्लोपीडिया, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, पृष्ठ 239
5. आदिवासी साप्ताहिक पत्रिका, वर्ष 2022, अंक 360, पृष्ठ 03

समस्त देशवासियों को स्वतंत्रता दिवस (15 अगस्त) की हार्दिक बधाई एवं मंगलकामनाएँ

डॉ. नविला सत्यादास
सेवानिवृत्त एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
राजकीय महीन्द्र कॉलेज, पटियाला, पंजाब

डॉ. रमेश कुमार
सेवानिवृत्त आयकर आयुक्त
अहमदाबाद, गुजरात

डॉ. बुद्धप्रिय सुरेश सौरभ 'गाजीपुरी'
सहायक अध्यापक एवं कोषाध्यक्ष GOAL
गाजीपुर, उत्तर प्रदेश

कैप्टन लाल बिहारी प्रसाद
एन.सी.सी. आफिसर/प्रवक्ता,
अमर शहीद विद्या मंदिर इं.कॉ., शहीदगाँव, चन्दौली, उ.प्र.

शोध-पत्र

देवचंद्र भारती 'प्रखर'
चन्दौली, उत्तर प्रदेश
मो.- 9454199538

नारी विमर्श और सुशीला टॉकभौरे की कविता

भारत में नारी विमर्श कब आरंभ हुआ? इसका सीधा और सरल उत्तर है- उन्नीसवीं सदी में। लेकिन यदि यह पूछा जाय कि नारी विमर्श क्यों आरंभ हुआ? तो इसका उत्तर टेढ़ा है और कठिन भी है। क्योंकि इस प्रश्न के साथ यह भी प्रश्न उत्पन्न होता है कि उन्नीसवीं सदी से पहले नारी-विमर्श क्यों नही आरंभ हुआ? क्या उससे पहले की नारियाँ शारीरिक और मानसिक रूप से दुर्बल थीं, जिसके कारण वे अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष नहीं कर सकीं? अथवा उससे पहले नारियों के साथ अन्याय और अत्याचार होता ही नहीं था? इसका स्पष्ट उत्तर नकारात्मक है। यहाँ भारतीय समाज के इतिहास का वर्णन करना प्रासंगिक नहीं है, इसलिए केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि उससे पहले भी नारियों के साथ अन्याय और अत्याचार होते रहते थे। उन्नीसवीं सदी से पहले भी नारियाँ मानसिक और शरीरिक रूप से सबल थीं, लेकिन उन्होंने पुरुष प्रधानता के विरुद्ध आवाज नहीं उठाई, क्योंकि राजनैतिक व्यवस्था उनके अनुकूल नहीं थी। उस समय की राजनीति पर धर्म का प्रभाव था। कोई भी राजा धर्म के विरुद्ध कोई राज-नियम बनाने का साहस नहीं करता था। लेकिन जब भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन प्रभावी हुआ, तब समाज सुधार के अनेक कार्यों में समाज सुधारकों को सफलता प्राप्त हुई।

नारी विमर्श : संक्षिप्त इतिहास

राममोहन राय (22 मई 19772-27 सितंबर 1833) ने सती प्रथा, बाल विवाह और बहु विवाह का खुलकर विरोध किया था। उन्होंने 20 अगस्त 1828 ई. को ब्रह्म समाज नामक संस्था की स्थापना की। उनके प्रयास से और विलियम बैंटिक के आदेशानुसार सन् 1829 ई. में वैधानिक रूप से सती प्रथा पर रोक लगी। इतिहासकार विपिनचंद्र ने लिखा है, ''विलियम बैंटिक ने घोषित किया कि पति की चिता पर जल मरने की कार्यवाही में जो भी सहयोगी होंगे, उन्हें अपराधी माना जाएगा। इससे पहले ब्रिटिश शासकों ने सती प्रथा को रोकने के प्रश्न पर उदासीन रुख अपनाया था। उन्हें डर था कि सती प्रथा के खिलाफ किसी भी तरह की कार्यवाही करने से रूढ़िवादी भारतीय नाराज हो जायेंगे। जब राममोहन राय और अन्य प्रबुद्ध भारतीयों तथा धर्मप्रचारकों ने इस अमानवीय प्रथा को खत्म करने के लगातार आंदोलन किये, तब जाकर सरकार सती प्रथा को रोकने के लोकोपकारी कदम उठाने के लिए सहमत हुई। भूतकाल में अकबर और औरंगजेब, पेशवा और जयपुर के राजा जयसिंह ने इस कुप्रथा को दबाने के लिए प्रयास किये, लेकिन वे असफल रहे। कुछ भी हो, इस प्रथा को गैरकानूनी घोषित

करने के लिए बैंटिक प्रशंसा का पात्र है। इस कुप्रथा के कारण 1815 और 1818 के बीच केवल बंगाल में ही 800 महिलाओं ने अपनी जान गवाई थी। बैंटिक इसलिए भी प्रशंसा का पात्र है कि उसने सती प्रथा के रूढ़िवादी समर्थकों के विरोध के सामने झुकने से इनकार कर दिया।'' राममोहन राय के सामाजिक आंदोलन की आलोचना करते हुए कवल भारती ने लिखा है, ''राममोहन राय के बारे में शायद यह जानकारी कम लोगों को हो कि उन पर ईसाई और इस्लाम धर्मों का काफी प्रभाव था। इन दोनों धर्मों के मिशनरी धर्मांतरण आंदोलन चला रहे थे। राममोहन राय हिन्दू समाज में इसलिए सुधार चाहते थे, ताकि इस्लाम और ईसाई धर्मांतरण आंदोलन हिन्दू धर्म के अस्तित्व के लिए संकट न बन जाए। इसलिए वास्तविकता यह है कि राय का आंदोलन हिन्दू धर्म की सुरक्षा का आंदोलन था, किसी नये राष्ट्र के निर्माण का आंदोलन नहीं था।'' भारती जी के इस कथन से और भारत के इतिहास का अध्ययन करने से इतना तो स्पष्ट है कि राममोहन राय के आंदोलन से हिन्दू धर्म की सुरक्षा हुई थी, क्योंकि सती प्रथा हिन्दूओं के एक विशेष वर्ग में ही प्रचलित थी। इसलिए यह कहा जा सकता है कि उनका नारी मुक्ति आंदोलन सम्पूर्ण भारतीय समाज की महिलाओं के लिए नहीं था, बल्कि केवल उनके ही वर्ग की महिलाओं के लिए था। भारत में नारी मुक्ति का वास्तविक राष्ट्रीय आंदोलन महामना जोतिराव फुले (11 अप्रैल 1827-28 नवम्बर 1890) ने किया। वे एक समाज सुधारक, विचारक, लेखक, दार्शनिक और क्रान्तिकारी कार्यकर्ता थे। उन्होंने अपनी जीवनसंगिनी सावित्रीबाई फुले (3 जनवरी 1831 - 10 मार्च 1897) को स्वयं पढ़ाया, जो भारत की प्रथम महिला शिक्षिका के रूप में जानी जाती हैं। फुले दंपति ने स्त्रियों की दशा सुधारने और उनकी शिक्षा के लिए 15 मई सन 1848 ई. को एक स्कूल खोला। उनका आंदोलन हर वर्ग की महिलाओं के लिए था। जिसका किसी जाति अथवा धर्म से कोई संबंध नहीं था। दुर्गाप्रसाद शुक्ल ने लिखा है- ''ज्योतिराव फुले के नारी-शिक्षा-आंदोलन का सभी पर प्रभाव पड़ा था। अनेक अंग्रेज अधिकारी उनके प्रशंसक भी हो गये थे। उनमें एक थे, पूना संस्कृत कॉलेज के मेजर कैंडी। उन दिनों बंबई प्रांत में बोर्ड आफ एजुकेशन के प्रेसिडेंट थे- एटस्किन पैरी। वे भी ज्योतिराव से प्रभावित थे। उनके कार्यों से प्रसन्न थे। सर पैरी कहते थे- जो कार्य सरकार को करना था, जिसे करने के लिए सरकार संकोच कर रही थी, उसे ज्योतिराव ने पूरा कर दिखाया। बंबई के जुडिशियल कमिश्नर तो स्थान-स्थान पर ज्योतिराव की सराहना करते हुए नहीं थकते थे। सर पैरी ने बंबई प्रांत की सरकार को एक सुझाव दिया। ज्योतिराव ने शिक्षा, विशेषकर स्त्री-शिक्षा की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है। उनका सार्वजनिक अभिनंदन किया जाना चाहिए।'' ताराबाई शिंदे (1850-1910) ज्योतिराव फुले और सावित्रिबाई फुले के सामाजिक आंदोलन में उनकी सक्रिय सहयोगी थीं। वे ज्योतिराव फुले द्वारा स्थापित 'सत्य शोधक समाज' (1873) नामक संगठन की संस्थापक सदस्य थीं। कुछ लोग तो ताराबाई शिंदे को भारतीय परिप्रेक्ष्य में नारीवाद की जननी कहते हैं, जबकि यह कहना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि ताराबाई शिंदे का नारी चिंतन केवल विधवा नारियों के शारीरिक व मानसिक सुख पर केंद्रित था। इसका कारण यह था कि ताराबाई का विवाह कम उम्र में ही हो गया था। कुछ ही दिनों बाद उनके पति का देहांत हो गया। वह एक निःसंतान विधवा थी। उनका दूसरा विवाह नहीं हो पाया, क्योंकि ब्राह्मणों के प्रभाव से मराठों में भी विधवा विवाह का प्रचलन नहीं

था। ताराबाई शिंदे ने सन् 1882 ई. में स्त्री पुरुष तुलना शीर्षक से मराठी में एक आलेख लिखा। उनका प्रश्न था कि पत्नी के मरते ही दूसरा विवाह करने की आजादी यदि पुरुषों को है, तो फिर कौन सी ताकत है, जो विधवाओं को पुनर्विवाह करने से रोकती है? ताराबाई शिंदे का कहना था कि विधवाओं का पुनर्विवाह न होने के कारण वे व्यभिचार की ओर अग्रसर होती हैं। इस संदर्भ में अपनी पुस्तक गुलामगिरी में ज्योतिराव फुले ने लिखा है, ''ब्राह्मणों की अनाथ, निराधार विधवा स्त्रियों को दूसरा विवाह करने की मनाही होने की वजह से उन ब्राह्मण स्त्रियों को व्यभिचार करने के लिए मजबूर होना पड़ता है। इसका परिणाम कभी-कभी यह भी होता है कि गर्भपात और भ्रूणहत्या (बालहत्या) करने के लिए मजबूर होना पड़ता है।'' स्पष्ट है कि ज्योतिराव फुले का नारी विषयक चिंतन राममोहन राय और ताराबाई शिंदे सहित उनके समकालीन अन्य समाज सुधारकों की अपेक्षा व्यापक था। सम्यक रूप से नारी विमर्श का आरंभ करने वाले व्यक्ति ज्योतिराव फुले थे। उन्हें ही नारी विमर्श का जनक माना जा सकता है।

बीसवीं सदी में नारी विमर्श धीरे-धीरे आंदोलन का रूप लेने लगा। परिणामस्वरुप जगह-जगह महिला सम्मेलन भी आयोजित होने लगे। अखिल भारतीय दलित वर्ग महिला सम्मेलन का दूसरा सत्र 20 जुलाई 1942 को मोहन पार्क, नागपुर में विशेष रूप से तैयार किये गये पंडाल में पचहत्तर हजार से अधिक श्रोताओं की उपस्थिति में संपन्न हुआ था। मंच पर बाबा साहेब डॉ. भीमराव आंबेडकर सहित प्रतिष्ठित नेतागण विराजमान थे। सम्मेलन में सुलोचनाबाई डोंगरे, प्रभावती रामटैक, राधाबाई कांबले, मंजुला कानफाडे आदि ने बारी-बारी से कुल आठ संकल्प प्रस्तुत किया, जिनमें शामिल संकल्प इस प्रकार थे- महिलाओं द्वारा पति को तलाक दिये जाने के अधिकार को कानून द्वारा मान्यता प्रदान करना, बहुविवाह की कुरीति को रोकने के लिए कानून में संशोधन करना, मिलों, बीड़ी फैक्ट्रियों, नगरपालिकाओं और रेलवे में महिला कामगारों को एक वर्ष में इक्कीस दिनों का आकस्मिक अवकाश प्रदान करना, प्रत्येक प्रांत में सरकारी खर्च से कम से कम पचास दलित वग्र की छात्राओं का छात्रावास चलाना, मिलों में महिला पर्यवेक्षकों को नियुक्त करना, केन्द्रिय एवं प्रांतीय विधायिकाओं में महिलाओं के लिए स्थान आरक्षित करना आदि। संकल्पों का अनुमोदन जयबाई चौधरी, लतिका जगभिए, इंदिराबाई पाटिल, सुलोचना नाइक, चंद्रभागा पाटिल, कौशल्या नंदेश्वर आदि ने किया। महिलाओं के इस सम्मेलन को संबोधित करते हुए डॉ. आंबेडकर ने कहा, ''मैं महिलाओं के संगठन में विश्वास रखता हूँ। मैं जानता हूँ कि यदि उनकी समझ में आ जाए, तो वे समाज की स्थिति को सुधारने के लिए बहुत कुछ कर सकती हैं। सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए उन्होंने महान सेवाएँ प्रस्तुत की हैं। मैं इसको अपने अनुभवों के आधार पर परखता हूँ। जबसे मैंने दलित वर्गों के बीच में कार्य करना प्रारंभ किया है, मैंने इसको हमेशा एक मुद्दा बनाया है कि पुरुषों के साथ महिलाएँ भी कार्य करें। इसीलिए आप देखते होंगे कि हमारे सम्मेलन हमेशा से मिश्रित सम्मेलन होते हैं। मैं किसी समुदाय की प्रगति का मूल्यांकन महिलाओं द्वारा की गई प्रगति से करता हूँ, और जब मैं ऐसी सभा को देखता हूँ, तो मुझे विश्वास और प्रसन्नता दोनों ही होती है कि हमने प्रगति की है।'' 26 दिसम्बर 1950 को डॉ. भीमराव आंबेडकर ने अनुसूचित जाति फेडरेशन की बेलगाम जिला शाखा के तत्त्वावधान में पचास हजार लोगों की एक सभा

को संबोधित करते हुए हिन्दू कोड बिल के संदर्भ में कहा था, ''मैंने इस बिल का प्रारुप स्मृतियों के निर्देशों के अनुसार तैयार किया था। स्मृतियाँ स्त्रियों को अनेक अधिकार प्रदान करती हैं। इस बिल का एकमात्र उद्देश्य स्त्रियों की सामाजिक प्रगति में कानून की बाधा को दूर करना था। स्वाधीनता धन पर निर्भर है और स्त्री को अपनी आजादी को कायम रखने के लिए अपने धन और अधिकारों को विशेष रूप से सुरक्षित रखना चाहिए।''

नारी-विमर्श के संपूर्ण इतिहास का अध्ययन करने से जो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं, उसके आधार पर नारी-विमर्श को तीन रूपों में विभाजित किया जा सकता है। (1) नारी मुक्ति (2) नारी जागृति (3) नारी प्रगति। नारी मुक्ति के अंतर्गत शोषण और कुप्रथा से नारियों की मुक्ति का विमर्श समाहित है। नारी जागृति के अंतर्गत उन्हें शिक्षित करना तथा वैज्ञानिक चेतना से परिपूर्ण करना सम्मिलित है। नारी प्रगति के अंतर्गत नारियों का नौकरी करना तथा संपत्ति रखने का अधिकार प्राप्त करना समाविष्ट है। नारी विमर्श का आधार नारी-स्वतंत्रता का भाव है, जो स्त्री-पुरुष समानता की चेतना का पूरक है। जो लोग नारी-विमर्श की बजाय 'नारीवाद' शब्द का प्रयोग करके नारी सत्ता की बात करते हैं, वे समाज को गलत दिशा प्रदान कर रहे हैं। साथ ही वे पुरुषों के साथ अन्याय करने हेतु स्त्रियों को प्रोत्साहित कर रहे हैं। इस प्रकार की मानसकता से पुरुष वर्ग का अहित तो होगा ही, स्त्री वर्ग का भी हित नहीं हो सकता। क्योंकि इससे स्त्री और पुरुष के बीच मानसिक दुराव उत्पन्न होगा। वर्चस्व किसी का भी ठीक नहीं है- चाहे वह पुरुष हो अथवा स्त्री। स्त्री-सत्ता की बात करना तो हद दर्जे की नासमझी है। यदि पुरुषवाद बुरा है, तो नारीवाद कैसे अच्छा हो सकता है? आंबेडकरवादी विचारधारा स्त्री-पुरुष समानता के आधार पर स्त्री-स्वतंत्रता की पक्षधर है, जिसके अंतर्गत नारीवाद शब्द की बजाय नारी-विमर्श शब्द का प्रयोग किया जाता है।

सुशीला टॉकभौरे की कविता में नारी विमर्श

प्रख्यात आंबेडकरवादी कवयित्री डॉ. सुशीला टॉकभौरे का तीसरा काव्य-संग्रह 'तुमने उसे कब पहचाना' वर्ष 1995 में शरद प्रकाशन, नागपुर से प्रकाशित हुआ था। इससे पहले उनके दो काव्य-संग्रह स्वांति बूँद और खारे मोती (1993) और तुम भी जानो (9194) प्रकाशित हो चुके थे। टॉकभौरे जी के इस तीसरे काव्य संग्रह में नारी विषयक कविताएँ संग्रहीत हैं। इस संग्रह की शीर्षक कविता तुमने उसे कब पहचाना में कवयित्री सुशीला जी ने जीवनसाथी कहे जाने वाले पति से एक पत्नी के पक्ष में प्रश्न किया है। वर्तमान में भले ही जागरुकता बढ़ने के कारण समाज में कुछ परिवर्तन हुआ है, लेकिन अभी भी अनेक ऐसे पुरुष हैं, जो अपनी स्त्रियों की योग्यता को उचित सम्मान नहीं देते हैं और उन्हें आगे बढ़ने हेतु प्रोत्साहित नहीं करते हैं। चंदन के जैसी विशिष्ट गुणों से युक्त स्त्रियाँ घर के चूल्हे की आग में जलती रहती हैं। एक ऐसी ही उपेक्षित पत्नी की व्यथा को कवयित्री ने अपनी कवित में अभिव्यक्त किया है। सुशीला जी की दृष्टि में एक विशिष्ट स्त्री हीरा की भाँति मूल्यवान होती है। अवलोकनार्थ :

साथी का दम भरने वाले
स्वामी!
तुमने उसे कब पहचाना?
क्यों कहते हो नारी को
मानव समाज का गहना?
चंदन वन की साख
मटियारे चूल्हे में जलती रही

नारी होने की परीक्षा
वह हर पल देती रही
कोयला खदानों में
हीरा ढूँढा जाता है
मगर घर का हीरा
कोयला जैसा
जलाया जाता है।

कवयित्री सुशीला टाँकभौरे ने स्त्री की मानसिक वेदना को बहुत ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है। जब कोई स्त्री अपने मन की बात अपने जीवन साथी से कहती है और प्रत्युत्तर में उसे संतोषजनक बात सुनने को नहीं मिलती है, तो उसका हृदय पीड़ित होता है। चूँकि सुशीला जी स्वयं एक स्त्री हैं, इसलिए वे स्त्री के मनोभाव से भलीभाँति परिचित हैं। अपनी कविता अनुत्तरित प्रश्न में वे कुआँ अथवा गुफा में की गई ध्वनि की लौटने वाली प्रतिध्वनि का उदाहरण देते हुए कहती हैं कि यह प्रकृति का नियम है, जिसके कारण क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य होती है। सुशीला जी का मानना है कि यदि पति अपनी पत्नी के प्रश्नों का उत्तर नहीं देता है, तो निश्चित से वह उसे नगण्य समझता है अथवा वह चाहता है कि पुरुष स्वामित्व की परंपरा निरंतर बनी रहे। डॉ. सुशीला टॉकभौरे ने स्वयं अपने पति से उपेक्षित होने का अनुभव किया था। उन्होंने अपनी आत्मकथा शिकंजे का दर्द में लिखा है, ''खाना परोसने में देरी होने पर या किसी बात से नाराज होने पर वे खाना नहीं खाते थे। तब उन्हें घंटो मनाना पड़ता था। कभी-कभी वे स्पष्ट शब्दों में कहते थे, मेरे पैरों में अपना सिर रखकर माफी माँग, तब मैं तेरी बात मानूँगा। पता नहीं वे मेरे साथ ऐसा क्यों करते थे? सिर्फ हाथों से पैर छूकर माफी माँगना पर्याप्त नहीं होता था। वे मेरा सिर अपने कदमों पर रखवाने के बाद मुझे माफ करते थे। यह बात मुझे अजीब लगती थी, मगर मैं इनकी इतनी परवाह करती ही क्यों थी? इनसे इतना डरती क्यों थी? इसका जवाब था- भयंकर मारपीट से बचना, महीनों के मानसिक तनाव के छुटकारा पाना। इसके बदले मैं अपना सिर इनके कदमों में झुका देती थी।'' स्वयं की भोगी हुई वेदना को आधार बनाकर सुशीला जी ने काव्य सृजन किया है। कवयित्री के शब्दों में-

अनुगुंजित होती है आवाज
यदि किसी गहरे कुएँ से
अंधेरी गुफा से कुछ कहा जाए
प्रत्युत्तर में ध्वनि गूँजती है
मगर तुम
कभी जवाब नहीं देते
मुझे नगण्य मानते हो
या चाहते हो
परंपरा चलती रहे।

इसी कविता में कवयित्री आगे की पंक्तियों में स्त्री की उस पीड़ा को व्यक्त करती है, जो पति के मौन रहने से उत्पन्न होती है। सुशीला जी को ऐसा लगता है कि पुरुष का मौन उसके स्वामित्वपूर्ण बड़प्पन के भाव को छुपाने वाला एक आवरण है, जिससे स्त्री स्वयं को उपेक्षित अनुभव करती है। सुशीला जी कहती हैं -

तुम्हारा मौन, चिंतन
स्वामित्वपूर्ण बड़प्पन का भाव
एक आड़ है
मुझे कचोटने लगे हैं
अपने विचार
यह जानकर कि

मैं उपेक्षित हूँ।

स्त्री जब अपनी उपेक्षा से तंग आ जाती है, तो वह आक्रोशित होती है। वह पुरुष-वर्चस्व के विरुद्ध तनकर खड़ी हो जाती है। वह समता का अधिकार प्राप्त करने हेतु पुरुष के स्वामित्वपूर्ण चिंतन पर प्रहार करती है। लेकिन ऐसा साहस वही स्त्री करती है, जो स्वयं की शक्ति को पहचान लेती है और जिसे शिखर पर पहुँचने की चेष्टा होती है। कवयित्री सुशीला टॉकभौरे ने अपनी कविता अनुत्तरित प्रश्न की अंतिम पंक्तियों में सनातन परंपरा को तोड़ने हेतु तत्पर स्त्री के क्रोधभाव को अभिव्यक्त किया है।

अगर बन जाऊँ मैं
सनातन परंपरा को तोड़ने हेतु
तुम्हारे लिए अभिशाप
गहरे कुएँ तक पहुँचा दूँ
तुम्हारे चिंतन के आधार ग्रंथ
टूटेगा मौनव्रत तुम्हारा
भविष्य की अंधेरी गुफा में
तब मेरे प्रश्नों के उत्तर
तुम अवश्य दोगे
केवल इतना ही नहीं
उन्हें बार-बार दोहराते रहोगे।

मासूम और भोली लड़कियाँ प्रायः अपने मन की बात कहने में संकोच करती हैं। वे स्वभाव से विनम्र होती हैं, लेकिन उन्हें दब्बू नहीं कहा जा सकता है। ऐसा भी नहीं है कि मासूम और भोली लड़कियाँ स्वाभिमानी नहीं होती हैं, वे स्वाभिमानी भी होती हैं। स्वाभिमानी लड़कियाँ अपने सम्मान की रक्षा करने हेतु सजग होती हैं। वे संभ्रान्त लोगों का लिहाज करती हैं, तो इसका तात्पर्य नहीं कि वे डरपोक होती हैं। जब उन्हें अनुभव होता है कि उनकी विनम्रता उनकी सफलता में अवरोध उत्पन्न कर रही है, तो वे कठोरता का भी प्रदर्शन करती हैं। सुशीला टॉकभौरे ने अपनी कविता 'मासूम भोली लड़की' में एक मासूम और भोली लड़की का जिस रूप में चित्रण किया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में जो मासूम और भोली लड़की है, वह दुनियादारी से अनजान भी है। इसीलिए वह हर बात पर आश्चर्य से टुकुर-टुकुर देखती हैं। 'टुकुर-टुकुर' शब्द में पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार है। कवयित्री सुशीला जी अपने स्वाभिमान की सुरक्षा हेतु मासूमियत और भोलेपन का त्याग करने के पक्ष में हैं। वे कहती हैं-

उस छोटी सी लड़की को
रख दिया है मैंने
ताक पर
मासूम भोली
टुकुर-टुकुर देखा करती थी
हर बात, अचरज से भौचक रहकर।

इस कविता की अंतिम पंक्तियों में सुशीला जी अपने भीतर की मासूम और भोली लड़की को अपने से अलग करते हुए उसे कठोरतापूर्वक आत्मनिर्भर बनने की शिक्षा प्रदान करती हैं। वे उसे उसकी पूर्णता का अनुभव कराती हैं। वास्तव में इस कविता में कवयित्री ने अत्यधिक भावुकता के कारण वैचारिक क्रमबद्धता की त्रुटि कर दी है। एक तरफ वे मासूम लड़की को ताक पर रखने की बात करती हैं, तो दूसरी तरफ वे उसे शिक्षा भी देती हैं। इन दोनों बातों की संगति नहीं बन पा रही है। एक तो वे उस मासूम और भोली लड़की को अपने ही प्रतिरूप के रूप में दर्शाती हैं, दूसरे वे उसे स्वयं से भी आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती हैं। इस कविता का सूक्ष्म अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि कवयित्री भावात्मक और विचारात्मक दोनों प्रकार से विचलित होकर उसी

प्रकार चक्कर खाती हुई प्रतीत होती है, जिस प्रकार कोई गाड़ी पहिए की हवा निकल जाने पर सड़क पर डगमग-डगमग करती रहती है। अवलोकनार्थ :

कठोर बनकर
सिखाना चाहती हूँ कि-
लड़की! तुम किसी पर निर्भर नहीं
स्वयं पूर्ण हो!
तुम मुझसे अलग नहीं
फिर भी तुम्हारा अपना
एक अलग अस्तित्व है
तुम्हारी राह, तुम्हारी मंजिल
मुझसे बहुत आगे है।

सुशीला जी ने अपनी कविता 'औरत नहीं मजबूर' के माध्यम से औरत को मजबूर करने वाली रीतियों की ओर संकेत किया है। उनका मानना है कि औरत मजबूर नहीं होती हैं, बल्कि वह सामाजिक रीतियों के आगे मजबूर हो जाती हैं। कवयित्री की दृष्टि में सामाजिक कुरीतियाँ औरत के लिए गले में लटकी जंजीर (सलीब) की तरह हैं, जिसे ढोते हुए वह थक चुकी है। उदाहरण :

औरत नहीं है मजबूर
मजबूरियाँ है रीतियाँ
ढोते हुए अपना सलीब
अब वह थक गई है।

इस कविता की अगली पंक्तियों में सुशीला जी इस रहस्य को उद्घाटित करती हैं कि एक स्त्री के हृदय में अनेक कामनाओं की चिंगारियाँ दबी होती हैं। वे उन चिंगारियों को हवा देने की माँग करती हैं। उन्हें विश्वास है कि हवा देने से दबी चिंगारियाँ स्वयं ईंधन बन जाएँगी और शोला बनकर सारी मजबूरियों को भस्म कर देंगी। कवयित्री सुशीला टॉकभौरे जी पुरुष वर्ग से नारी मुक्ति हेतु सहयोग चाहती हैं। वे सामाजिक कुरीतियों की जंजीर तोड़ने हेतु एक पत्नी के समक्ष पुरुष को एक सच्चे जीवनसाथी के रूप में प्रस्तुत होने की आशा करती हैं। दबी चिंगारी को हवा देने से उनका तात्पर्य यही है कि स्त्री की प्रतिभा को पुरुष का प्रोत्साहन प्राप्त हो।

तनिक इनको हवा दे दो
इंधन स्वयं बन जाएँगी
बनकर ये शोला करेंगी
भस्म सब मजबूरियाँ।

सुशीला टॉकभौरे ने अपनी कविता 'आज की खुद्दार औरत' में स्त्री के स्वाभिमान को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह स्वरूप किसी सच्चरित्र स्त्री का नहीं हो सकता है। उस प्रकार के स्वाभिमान को निर्लज्जता का नाम दिया जाता है, जो सामान्यतः वेश्याओं की प्रवृत्ति है। एक सच्चरित्र स्त्री किसी भी स्थिति में स्वयं को निर्वस्त्र नहीं कर सकती है। पर-पुरुष के सामने किसी स्त्री के निर्वस्त्र होने पर कैसा सम्मान? और बिना सम्मान के कैसा स्वाभिमान? स्त्रियों के साथ बलात्कार प्रायः वही पुरुष करते हैं, जो दुष्ट होते हैं। दुष्ट पुरुषों के मन में यदि स्वाभिमान होता, तो वे इस प्रकार का पापाचार करते ही क्यों? जिन पुरुषों में स्वाभिमान ही नहीं है, उनके सामने निर्वस्त्र होकर उनके पौरुष को चुनौती देना मूर्खता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। कवयित्री सुशीला टॉकभौरे को ऐसा लगता है कि किसी स्त्री द्वारा ऐसा कृत्य करने से वे दुराचारी पुरुष लज्जित हो जाएँगे और उसे नहीं छूएँगे, तो यह कवयित्री का भ्रम है। इस कविता में यथार्थ से विमुख, तर्कहीन भावाभिव्यक्ति है, जो सभ्य समाज के लिए किसी भी प्रकार से उपयोगी नहीं है। अतः इस कविता को

अच्छी कविता कहना कविता के साथ अन्याय करना होगा। यदि काव्य सिद्धांतों पर ध्यान दिया जाए, तो इस कविता में अश्लीलत्व दोष है। अवलोकनार्थ :

तुमने उघाड़ा है
मर्दों!
हर बार औरत को
क्या हर्ज है
इस बार स्वयं वह
फेंक दे परिधानों को
और ललकारने लगे
तुम्हारी मर्दानगी को
किसमें हिम्मत है
जो उसे छू सकेगा?

सुशीला टॉकभौरे का मानना है कि औरत अगर अपनी कोमलता, कमनीयता, लचक, मेंहदी की मधुरता, घुँघरु की रुनझुन और चूड़ियों की खनक को त्याग देगी, तो वह तनकर चल सकेगी और दुनिया में मर्द की तरह जी सकेगी। अपनी इसी भावना को उन्होंने अपनी कविता 'वह मर्द की तरह जी सकेगी' में व्यक्त किया है। प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब औरत, औरत के सारे गुणों को त्याग देती, तो वह औरत ही नहीं रहेगी। जब वह औरत ही नहीं रहेगी, तो फिर वह औरत क्यों कहलाएगी? अगर वह मर्द की तरह जीने लगेगी, तो फिर मर्द तथा औरत में फर्क ही नहीं रहेगा। जब औरत और मर्द में फर्क नही रहेगा, तो फिर नारी विमर्श करने की जरुरत ही क्यों पड़ेगी? चिंता की बात यह है कि क्या सुशीला टॉकभौरे का चिंतन भटकाव की स्थिति में है? जी, हाँ। इस प्रकार का चिंतन निश्चित रूप से समाज को विखंडित करने में सहयोगी होगा, जिसके कारण सामाजिक परिवर्तन भी होगा, किंतु नवीन समाज की संरचना कैसी होगी? इसकी भी कल्पना कर लेनी चाहिए। सुशीला जी ने अपनी इस कविता में एक पंक्ति लिखा है- ''शालीनता की बात ने गूँगा बनाया है।'' तो क्या मुखर होने के लिए शालीनता को त्यागना जरुरी है? क्या शालीन रहकर अभी तक किसी स्त्री ने अपना अधिकार प्राप्त नहीं किया है? ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि स्त्रियों ने अपनी मर्यादा में रहकर अपने उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त किया है। सुशीला जी घूँघट की ओट को स्त्री के लिए संसार-दर्शन का सबसे बड़ा अवरोध मानती हैं। प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या संसार दर्शन करना जरुरी है? क्या घूँघट हटा देने से स्त्री संसार का दर्शन कर लेगी? क्या यह बात संसार की हर स्त्री पर लागू हो सकती है? जो धनवान स्त्रियाँ हैं, वे तो वैसे भी घूँघट नहीं करती है, लेकिन जो निर्धन स्त्रियाँ हैं, क्या घूँघट हटाकर सारे संसार का दर्शन कर सकती हैं? निसंदेह इसका उत्तर नकारात्मक है। इसलिए कवयित्री सुशीला टॉकभौरे को निर्धन और सुविधाहीन महिलाओं को भी अपने चिंतन में समाहित करना चाहिए था। उन्हें अपनी दृष्टि को व्यापक करने की आवश्यकता थी। यह गलती लगभग सभी नारीवादी महिलाएँ करती हैं। उनके चिंतन की सीमा में केवल मध्यम और उच्चवर्ग की महिलाएँ ही रहती हैं। इसलिए वे महिलाओं को निरंकुश बनने की प्रेरणा देती हैं। ध्यातव्य है कि वर्तमान में अधिकांश शिक्षित युवाओं के साथ-साथ अशिक्षित युवा भी अपनी जीवनसंगिनी सहित अपने घर की सभी स्त्रियों को पर्याप्त महत्व देते हैं। नारीवादियों को इस सामाजिक परिवर्तन पर ध्यान देने की आवश्यकता है। नारीवादी कवयित्रियाँ इस प्रकार की गलती सदैव करती हैं कि अपनी कविता में देशकाल और वातावरण को इंगित नहीं करती हैं, जिसके कारण स्त्री की सामाजिक और पारिवारिक स्थिति तथा उसके

आर्थिक और मानसिक स्तर का पता नहीं चल पाता है। ऐसी स्थिति में उनका नारी विषयक चिंतन अपूर्ण सिद्ध होता है, क्योंकि कोई भी तर्क और तथ्य सभी स्त्रियों पर लागू नहीं हो सकता है। सुशीला टॉकभौरे की इस कविता की निम्न पंक्तियाँ विचारणीय हैं -

कुएँ की मेढकी की तरह
जीना भी क्या जीना है
दाना-पानी से बड़ी
बहुत बड़ी दुनिया है
मान सम्मान में
ज्ञान और विज्ञान में
पीछे नहीं है औरत
पूरे विश्व को मुट्ठी में रखकर समझेगी
तभी वह मर्द की तरह जी सकेगी।

विद्रोह करना कितना उचित है? यह एक गंभीर अध्ययन का विषय है। समान्य बुद्धि स्तर के लोग तो केवल 'विद्रोह' शब्द सुनकर ही विद्रोही व्यक्ति के पक्ष में धन्य-धन्य शब्द का जाप करने लगते हैं। जब कोई व्यक्ति अपने परिवार में विद्रोह करता है, तो पारिवारिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है। जब वह समाज में अकेला विद्रोह करता है, तो उसे शायद ही कुछ लोग पसंद करते हैं, अन्यथा शेष लोग उसके शत्रु बन जाते हैं और वह बिल्कुल अकेला पड़ जाता है। अकेला चना कभी भाड़ नहीं फोड़ता है। अंततः वह थक हारकर शांत पड़ जाता है। विद्रोह तभी उपयोगी होता है, जब वह एक संगठन के रूप में होता है। तभी उसे सफलता भी प्राप्त होती है। सुशीला टॉकभौरे ने अपनी कविता 'विद्रोहिणी' में एक ऐसी महिला के विचारों को अभिव्यक्त किया है, जो पूरी तरह से स्वच्छंद रहने की इच्छुक है। कवयित्री के अनुसार वह विद्रोहिणी महिला प्रचलित परिपाटी से हटकर 'सब ओर' भागती है। 'सब ओर' भागने से यही प्रतीत होता है कि कभी-कभी वह प्रचलित परिपाटी की ओर भी भागती है। वह विद्रोहिणी चीखती है, उसकी आवाज सभी दिखाओं में गूंजती है। उसकी स्थिति से ऐसा लगता है, जैसे वह विक्षिप्त हो चुकी है। उसे अनंत असीम दिगंत चाहिए। वह छत का खुला आसमान नहीं, बल्कि आसमान की खुली छत चाहती है। वह विद्रोहिणी तो इस प्रकार पूरे आसमान की माँग कर रही है, जैसे पूरा आसमान उसके पिता की संपत्ति है। इतनी स्वतंत्रता तो पुरुषों को भी नहीं है। आसमान की क्या बात की जाए, जमीन पर ही पुरुष हर जगह आवागमन नहीं कर सकता है, क्योंकि यत्र-तत्र उसे 'नो एंट्री' का बोर्ड भी दिखाई देता है। कवयित्री सुशीला टॉकभौरे की भावाभिव्यक्ति निसंदेह प्रशंसनीय है, किंतु उनकी अभिव्यंजना शैली चिंताजनक है। उदाहरण :

प्रचलित परिपाटी से हटकर
मैं भागती हूँ- सब ओर, एक साथ
विद्रोहिणी बन चीखती हूँ
गूँजती है आवाज सब दिशाओं में-
मुझे अनंत असीम दिगंत चाहिए
छत का खुला आसमान नहीं
आसमान की खुली छत चाहिए
मुझे अनंत आसमान चाहिए।

पति-पत्नी का रिश्ता विश्वास की डोर बँधा होता है। संदेह का चाकू उनके रिश्ते की डोर को काट देता है। पति-पत्नी के रिश्ते में माधुर्य तभी बना रह सकता है, जब वे एक-दूसरे की पसंद और नापसंद का ध्यान रखें तथा एक-दूसरे की परवाह करें। पति और पत्नी एक दूसरे के जीवन साथी होते हैं, इसलिए दोनों एक

दूसरे के साथ-साथ चलें, यही सर्वथा उचित है। सुशीला टॉकभौरे ने अपनी कविता 'लौटा दो मेरा विश्वास' में एक ऐसी पत्नी की भावनाओं को अभिव्यक्त किया है, जो अपने पति का हर कदम पर साथ चाहती है। वह अपने पति को ज्योतिराव फूले की तरह व्यवहार करते हुए देखना चाहती है। ज्योतिराव फूले और सावित्रीबाई फुले वास्तव में भारतीयों के लिए एक आदर्श दम्पति हैं। भारत में ऐसे अनेक पति हैं, जो ज्योतिराव फूले की तरह विशेषता रखते हैं, लेकिन उनकी पत्नियाँ सावित्रीबाई फूले की तरह नहीं है। खैर, सुशीला टॉकभौरे की कविता में जो स्त्री है, वह अपने पति के प्रति पूरी तरह समर्पित होने की अभिलाषा रखती है।

करती हूँ तुमसे आशा
लौटा दो मेरा विश्वास
सहृदय मित्र बनकर मेरे
चलने दो मुझको भी साथ
बन जाओ ज्योतिराव फूले
मैं सावित्री - सी बनकर
अर्पित कर दूँगी जीवन
पीड़ाओं के उन्मूलन में।

निष्कर्ष :

यह कहा जा सकता है कि सुशीला टॉकभौरे का नारी विषयक चिंतन विशेष रूप से पति-पत्नी के आपसी रिश्ते तक सीमित है। उनके नारी विषयक चिंतक को पारिवारिक नारी चिंतन कहना उचित होगा। सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उनका नारी विषयक चिंतन संकुचित प्रतीत होता है। समाज में केवल एक ही प्रकार की सोच वाली महिलाएँ नहीं हैं। कहा जाता है, मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना। सभी महिलाओं की सामाजिक स्थिति और आर्थिक स्थिति एक जैसी नहीं है। इसलिए नारी विमर्श करने वाले साहित्यकारों को सार्वभौमिक चिंतन करने की आवश्यकता है। इस संदर्भ में सुशीला जी का एक कथन ध्यातव्य है। उन्होंने कोलकाता में दिये गये अपने एक साक्षात्कार में कहा था, ''**दलित विमर्श और नारी विमर्श विशेष रूप से दलितों और स्त्रियों की समस्याओं का अध्ययन सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक दृष्टिकोण से करता है। यहाँ धर्म भी एक विशेष मुद्दा है, जो दलित और स्त्रियों की स्थिति को निम्नतर बनाने में सहायक है। हिन्दू धर्म और हिन्दूवादी नीति परंपराओं ने दलितों और स्त्रियों के साथ जो अन्याय किया है, दलित और स्त्री विमर्श अब उन्हें उजागर कर रहे हैं। साथ ही उन समस्याओं के निदान के उपाय खोजे जा रहे हैं।**'' चूँकि सुशीला टॉकभौरे का कविता-संग्रह 'तुमने उसे कब पहचाना' बीसवीं सदी के अंतिम समय में सृजित हुआ है। इसलिए इक्कीसवीं सदी में हुये परिवर्तन की झलक इसमें नहीं है। इस संग्रह की कविताओं का विगत युग के सापेक्ष अपना महत्व है। लेकिन वर्तमान युग में सुशीला जी की कविताओं की प्रासंगिकता पूरी तरह से उपयोगी नहीं है। इसलिए भावी कवयित्रियों को अपनी नारी विषयक दृष्टि को व्यापक करके ही काव्य-सृजन करना चाहिए।

संदर्भ :

1. आधुनिक भारत का इतिहास : विपिन चंद्र, पृष्ठ 108, प्रकाशक - ओरियंट ब्लैकस्वान हैदराबाद (आंध्र प्रदेश), संस्करण 2008
2. दलित विमर्श की भूमिका : कंवल भारती,

पृष्ठ 45, प्रकाशक- अमन प्रकाशन कानपुर, संस्करण 2023

3. ज्योतिबा फुले : दुर्गा प्रसाद शुक्ल, पृष्ठ 31, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, संस्करण 1991
4. गुलामगिरी : ज्योतिबाराव फूले, पृष्ठ 61, हिंदी अनुवादक- आकाश सूर्यवंशी (पीडीएफ बुक)
5. बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर संपूर्ण वांग्म- खंड 37, पृष्ठ 271-272, प्रकाशक- डॉ. आंबेडकर प्रतिष्ठान नई दिल्ली, नौवां संस्करण 2019
6. बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर संपूर्ण वांग्मय - खंड 37, पृष्ठ 390, प्रकाशक - डॉ. आंबेडकर प्रतिष्ठान नई दिल्ली, नौवां संस्करण 2019
7. तुमने उसे कब पहचाना : डॉ. सुशीला टॉकभौरे, पृष्ठ 59-60, प्रकाशक - स्वराज प्रकाशन नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2013
8. शिकंजे का दर्द : डॉ. सुशीला टॉकभौरे, पृष्ठ 140, प्रकाशक - वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण 2009
9. तुमने उसे कब पहचाना : डॉ. सुशीला टॉकभौरे, पृष्ठ 61, प्रकाशक- स्वराज प्रकाशन नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2013
10. वही, पृष्ठ 61
11. वही, पृष्ठ 62
12. वही, पृष्ठ 74
13. वही, पृष्ठ 74-75
14. वही, पृष्ठ 78
15. वही, पृष्ठ 78
16. वही, पृष्ठ 81
17. वही, पृष्ठ 84
18. वही, पृष्ठ 86
19. वही, पृष्ठ 95
20. साक्षी है संवाद- सुशीला टॉकभौरे, पृष्ठ 146, प्रकाशक - अमन प्रकाशन कानपुर, प्रथम संस्करण 2020

हिन्दी शब्दकोश के अनुसार 'विद्वज्जन' का शाब्दिक अर्थ है- शिक्षित लोग, विद्वत् समाज, गुणीजन।

आंबेडकरवादी विद्वज्जनों का विशुद्ध संगठन

GOAL में हर क्षेत्र के लोग शामिल हो सकते हैं। GOAL का उद्देश्य बहुजन हिताय की अवधारणा पर आधारित है। GOAL में सदस्यों की कोई निश्चित सीमा नहीं है। अतः अधिक से अधिक लोग GOAL से जुड़ सकते हैं।

शोध-पत्र

पूजा कुमारी
शोधार्थी, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

हिन्दी रंगमंच में महिला रंगकर्मियों का योगदान

हिन्दी रंगमंच में स्त्री रंगकर्मी का आगमन 20वीं सदी के अंतिम चरण में हुआ। देर आई पर दुरुस्त आई कहावत महिला रंगकर्मियों को चरित्रार्थ करता है। कला की अभिव्यक्ति में रंगमंच का स्थान उत्कृष्ट माना जाता है। उत्कृष्ट दृश्यात्मक कला प्रस्तुति में महिला रंगकर्मियों के द्वारा नए प्रयोग का लोहा सभी मानते हैं। तथाकथित नेपथ्य में जीवन निर्वाह करती स्त्री, अब रंगमंच पर अपनी कुशल बुद्धि का परचिय दे रही है। शुरुआत में रंगमंच पर महिलाओं का योगदान महज नृत्य, गान और संगीत तक ही सीमित था। समय के बदलते दौर को महिलाओं ने समझा और अपनी प्रतिभा का परिचय देना प्रारंभ किया। पितृसत्तात्मक व्यवस्था की कठपुतली के दायरे से बाहर निकलकर महिलाओं ने स्वयं के लिए नई जमीन तैयार किया। रंगमंच पर अभिनेत्री, नाटककार का सफर तय करते हुए वर्तमान में महिलाएं मंचसज्जा के प्रत्येक घटक निर्देशन, पटकथा लेखन और प्रोडक्शन का निर्वाह कुशलता पूर्वक कर रही है।

बीज शब्द :-

रंगमंच, रंगकर्मी, निर्देशिका,
मूर्त-अमूर्त, रंगसज्जा।

भूमिका -

दृश्यात्मक कला प्रस्तुति हेतु एक विशेष क्षेत्र या स्थान को रंगमंच कहा जा सकता है। जहाँ मानव जीवन की गतिविधियों का पुनः क्रियात्मक रूप दिखाता है। वर्तमान में रंगमंच का परिष्कृत रूप हमारे समक्ष मौजूद है। आज इस विशेष स्थान को अनेक प्रकार के तकनीकी सुविधाओं के साथ सजाया जा रहा है। परन्तु हम वैसी प्रत्येक स्थान को रंगमंच कह सकते हैं, जहाँ मानव गतिविधियों को कलात्मक तरीके से प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु कला की गरिमा बनाए रखने के लिए इसकी सीमा तय की गई है। जिसे नाट्य प्रस्तुति के साथ देखा जा सकता है। जैसा कि हम सभी जानते हैं। नाटक और रंगमंच के बीच अत्यंत प्रगाढ़ संबंध स्थापित है। कोई भी नाटक रंगमंच पर मंचित हुए बिना अधूरा समझा जाता है। वैसे ही बिना नाटक का रंगमंच अस्तित्वहीन जान पड़ता है। रंगमंच और नाटक के अन्नोन्याश्रित संबंध को इंगित करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं ''रंगमंच पर अभिनीत होकर ही नाटक पूर्ण अभिव्यक्ति को प्राप्त हो सकता है। पुस्तकों में वह अंटता नहीं। नाटक का नाम सुनते ही स्वभावतः स्टेज का स्मरण हो आता है। इसलिए नाटकार और समालोचक दोनों के लिए स्टैज की जानकारी आवश्यक होती है।''

यह आलेख हिंदी रंगमंच में महिला रंगकर्मियों के योगदान के बारे में है। जिसे सदैव पुरुष अधिकृत सत्ता ने हाशिये पर रखा है। नाटक रंगमंच की चली आ रही पुरुषत्व परंपरा को प्रश्नीकृत करती हुई कलविद महिलाओं ने रंगमंच को विकासोन्मुख बनाया है। बहुमुखी प्रतिभा की धनी महिलाएं उम्दा अभिनेत्री और संवेदनाशील नाटककार के साथ-साथ मंच सज्जा का संचालन भी कुशलतापूर्वक किया है। मंच सज्जा के अंतर्गत कलाप्रिय स्त्रियाँ प्रकाश योजना, ध्वनि योजना, मंच व्यवस्था, वेशभूषा इत्यादि रंगमांचीय तत्वों का सफल निर्वाह कर रही है। नाटक और रंगमंच को सार्थकता प्रदान करने वाला प्रमुख रंगकर्मी में निर्देशक या निर्देशिका होते हैं। सार्थकता की इस कड़ी में महिलाओं की भूमिका और योगदान पर यह शोध आलेख प्रकाश डालता है। अर्थात निर्देशिका के रूप में मंच सज्जा में प्रस्तुत स्त्रियों की प्रतिभा का विवेचन।

निर्देशन कार्य-

निर्देशन कार्य अमूर्त को मूर्त बनाने का द्योतक है। नाटककार द्वारा प्रस्तुत अमूर्त वस्तु यानी लिखित नाट्य प्रति को मूर्त बनाने का कार्य निर्देशक/निर्देशिका करते हैं अर्थात अमूर्त नाट्यालेख को रंगालेख में परिवर्तित करना, निर्देशन का प्राथमिक काय है। रंगमंच विधान में सबसे क्लिष्ट कार्य निर्देशन का होता है। निर्देशक या निर्देशिका नाटक का प्रगाढ़ अध्ययन करने के बाद रंगमंच के अनुरूप नाटक के शब्दों के भीतर दृश्यबंध, रंगसज्जा, ध्वनि प्रभाव आदि रंगशिल्प के तत्व का संधान करता है। कभी-कभी निर्देशन कार्य में नाटककार द्वारा रचित नाट्यालेख को आवश्यकता अनुसार परिवर्तित भी कर दिया जाता है। यह परिवर्तन का सफल होना दर्शकगण पर निर्भर करता है। नाटक में निहीत मूलभाव का सधारणीकरण निर्देशन कार्य की सफलता का परिचायक है। एक अच्छा निर्देशन कार्य नाटक को प्रसिद्धि प्रदान करा सकता है। ठीक इसके विपरीत खराब निर्देशन कार्य नाटक को प्रतीत बना सकता है। इस बात की पुष्टि डॉक्टर मांधाता ओझा और डॉ शशि सरदारनी ने किया है। ''निर्देशक नाटक की प्रस्तुति के लिए अपेक्षित रंगमंच के विभिन्न अवयवों का संघटक ही नहीं है अपितु सहृदय रूप से नाटक के आवेदन की अनुभूति भी करता है। इसलिए वह प्रस्तुतीकरण को जीवंत बना सकता है।

महिलाओं का निर्देशन कार्य-

हिंदी रंगमंच में स्त्रियों की स्थिति बदलती रही है। स्त्रियों के योगदान से यह मंच कभी अछूता नहीं रहा है। रंगमंच का एक काल ऐसा था, जब स्त्रियाँ प्रत्यक्ष रूप से रंगमंच पर मौजूद नहीं थी। परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से स्त्रियाँ हमेशा रंगमंच पर रही। (स्त्री वेशभूषा में पुरुष कलाकार) समय बदलता गया और रंगमंच पर स्त्रियाँ प्रत्यक्ष प से नजर आने लगी। अभिनेत्री, नाटककार की सफल भूमिका के बाद महिलाओं ने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन निर्देशन कार्यों में भी सफलतापूर्वक दे रही हैं। महिलाओं के सफल सृजनात्मक हस्तक्षेप को इंगित करते हुए अपर्णा वेणु ने लिखा है। ''किसी भी नाट्य प्रस्तुति के मूलभूत तीन प्रमुख तत्व होते हैं- अंतर्वस्तु, रूप संरचना एवं दर्शकीय अनुभूति। इन तीनों तत्वों के परिपेक्ष में स्त्री पाक्षीय रंगकर्म पर विचार किया जाए तो जरुर कहा जा सकता है कि महिला रंगकर्मियों ने भारतीय रंगमंच के परिदृश्य को ज्यादा व्यापक,

संवेदनशील और मानीवय बनाया है। हिन्दी रंगजगत में निर्देशन कार्य में पहली नारी शांता गांधी है। लोकनाट्य परंपरा में इनका निर्देशन कार्य प्रारंभ हुआ। हालांकि इन्होंने रंगमंच में अपनी शुरुआत नृत्य कार्य से किया था। परंतु रंगमंच की दुनिया को समझते जानते हुए इन्होंने निर्देशन कार्य का भी श्री गणेश किया। लोकरंग मंच पर शांता गांधी का निर्देशन नवीन अनुभूति का साक्षात्कार करता है। भवई शैली में जसमा ओडन नौटंकी शैली में अमर सिंह राठौर की प्रस्तुति इनके कार्यों की प्रतिष्ठा रंग जगत के लिए विस्मरणीय है। शांता गांधी का यह प्रयास आधुनिक हिंदी रंगमंच में लोक शैलियों की संभावनाओं के नए आयाम प्रस्तुत किए। जिससे आगे आने वाले रंगकर्मी काफी प्रभावित हुए। इन्होंने लोकनाट्य में निर्देशन कार्य कर, रंगमंच में महिलाओं के लिए एक नया राह प्रशस्त की है। हालांकि बाद में इन्होंने संस्कृत नाटक स्वप्नवासवदत्ता, मध्यम वियोग, भगवद्ज्जुकम् इत्यादि नाटकों की प्रस्तुति में निर्देशन कौशल दिखाया। आधुनिक हिंदी रंगमंच पर सशक्त निर्देशिका के रूप में पहला नाम उषा गांगुली का लिया जाता है। प्रतिभाशाली उषा गांगुली अच्छी अभिनेत्री, नाटककार, रूपांतरकार रही हैं। परंतु उनकी प्रसिद्धि रंगमंच पर विशेषतः निर्देशिका के रूप में हुआ। इनके द्वारा निर्देशित पहला नाटक मन्नू भंडारी कृ महाभोज है। इन्होंने लगभग 25-30 पात्रों को मंच पर अत्यंत सहजता से प्रस्तुत किया है। उनके निर्देशन में अधिक पात्रों द्वारा मंचित यह नाटक अपनी मूल क्षमता को रंगजगत में प्रतिष्ठित किया। उषा गांगुली के निर्देशन में महाश्वेता देवी की कहानी पर आधारित रूदाली (1993) नाटक रंगमंच पर मंचित हुआ। यहाँ जीवन संघर्षों एवं अनुभवों का स्त्रीवादी दृष्टि से अभिव्यक्त किया गया है। नाटक का नवीन विषय-वस्तु और मानव जीवन की विषमताओं का मार्मिक चित्रण प्रेक्षकों को अपनी ओर आकृष्ट किया। उषा गांगुली ने पर पीड़ा पर दुखित होने या रोने की विवशता को नितांत मर्मस्पर्शी तरीके से प्रस्तुत किया। जीवन की इस घटना का अत्यंत जीवंत प्रस्तुति दर्शकों के मानस पटल पर अमिट छाप छोड़ा। नाटक में प्रस्तुत स्त्री पात्र सनिचरी अपने आत्मसम्मान के लिए समाज के ठेकेदारों से लड़ती है। नारी जीवन विभीषिका की प्रस्तुति उषा जी ने किया है। पूरे नाटक के जरिए उषा जी जो बातों को दर्शकों के सम्मुख स्पष्ट करती है। पहली, स्त्री की सुरक्षा पुरुष के हाथों में नहीं है और दूसरी, स्त्री चाहे इस सामाजिक व्यवस्था में गरीब हो या अमीर हमेशा यौन संबंध के लिए उपयुक्त केवल वस्तु होती है। ऐसे अनुठे विषय वस्तु की प्रस्तुति एवं उषा गांगुली की निर्देशन कार्य की इन्हें रंगमंच की सशक्त निर्देशिका के रूप में प्रतिष्ठित किया है। उषा गांगुली की समसामायिक निर्देशिका गिरीश रस्तोगी का योगदान रंगजगत में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। अपनी बहुमुखी प्रतिभा से इन्होंने रंगजगत को समृद्ध और सम्पन्न बनाया है। इन्होंने ध्रुवस्वामिनी और नहुष नाटक की प्रस्तुति का निर्देशन किया है। इन्होंने स्त्रीत्व पक्षीय भावों का प्रदर्शन कर प्रेक्षकों को स्त्री संवेदना से जोड़ने का सफल प्रयास किया है। इन दो नाटकों की प्रस्तुति भी स्त्री संवेदनाओं, समस्याओं, जटिलताओं आदि को प्रस्तुत करती है। निर्देशन कार्य के दौरान इन्होंने ध्रुवस्वामिनी के चारित्रिक गुणवत्ता को मंच पर पूरे सटीकता से प्रस्तुत किया है। ध्रुवस्वामिनी एक सशक्त स्त्री के रूप में नाटक में मौजूद है, जो अपने इच्छाओं और आत्मसम्मान के लिए संघर्ष करती है। ध्रुवस्वामिनी

के माध्यम से भारतीय महिलावर्ग को सजग करने की चेष्टा किया है। कमजोर और डब्बू राजा राम गुप्त को त्याग कर साहसी योद्धा चंद्रगुप्त को अपने पति के रूप में स्वीकार करती है प्रस्तुतीकरण का सही तरीका ध्रुवस्वामिनी को समझ में अच्छी स्त्री के रूप में स्थापित करता है। क्योंकि भारतीय समाज में महिलाओं को स्वयं के लिए सुयोग्य वर जुड़ने की स्वतंत्रता नहीं थी। गिरीश रस्तोगी का निर्देशन कार्य महिलाओं को स्वयं के लिए सही चुनाव का राह दिखाता है। आधुनिक नारियों की समस्या के संदर्भ में उनकी प्रस्तुति नाटक का मूल भाव ऐतिहासिक प्रसंग को भी सुरक्षित रखता है। यह प्रस्तुति सशक्त महिला ध्रुवस्वामिनी के रूप में वर्तमान नारियों के लिए एक संदेश छोड़ता है। महिलाएं स्वतंत्र भाव से अपने निजी जीवन से जुड़ी हरेक संदर्भ का सही चुनाव करें। इन्होंने महिला नाट्य लेखन और रंगकर्मी होने के विषय में लिखा- निश्चय ही यहाँ महिला व्यक्तित्व, उसकी शारीरिक मानसिक, बौद्धिक संरचना को, स्त्री संवेदना को भी समझ कर चलना, उसके निजीपन के अहसास और सृजन के नित नए रास्ते निकालने की कोशिक और क्षमता को सामाजिक 'सामाजिक संघर्ष' को समझकर चलना होगा, वहीं स्त्री सृजन कर्म है। विविधताओं में संतुलन-क्षमता पुरुष की अपेक्षा, स्त्री में ज्यादा होती है और बेहद सूक्ष्म स्तर पर। वह घर, समाज, परिवार, बाहर संबंधों और अंतर्बाह्य द्वंद्वों से, कला-प्रयोजन के प्रश्नों से टकराती है। रस्तोगी जी को स्त्री संवेदनाओं और मानवीय संवेदनाओं की अच्छी समझ थी। जिस कारण वह प्रेक्षकों के समक्ष स्त्री पक्षीय विचारों को व्यक्त करने में सफल हुई। अच्छी निर्देशिका के रूप में दर्शक वर्ग तक संवेदनाओं और समस्याओं की किस तरीके से परोसा जाए, उसकी अच्छी समझ थी। एक निर्देशिका के रूप में दर्शक वर्ग को आकर्षित करने हेतु मंच पर कब, कैसे और कहाँ चीजों को प्रस्तुत किया जाए वह बखूबी जानती थी। जिससे पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री अस्मिता के प्रश्नां को उठाया जा सके। गिरीश रस्तोगी एक प्रयोगवादी निर्देशिका सिद्ध हुई है। इन्होंने अद्वितीय नाटकालेख कितना कुछ एक साथ भी तैयार किया। जिसमें मोहन राकेश के तीनों नाटक की प्रमुख स्त्री पात्र मल्लिका, सुंदरी और सावित्री के पक्ष में बाते कही गई हैं।

रंगमंच को समृद्ध करने की इस कड़ी में कई महिला रंगकर्मियों ने अपनी अहम भूमिका निभाई है। नाटक को निर्देशित कर नाटक के मूल विषय-वस्तु को प्राणवान बनाने का कार्य महिलाओं ने किया है। जिसमें से प्रमुख नाम है- कीर्ति जैन (और कितने टुकड़े), रसिक अगाशो (म्यूजिम का स्पीशीज इन डेंजर), बी जायश्री (अग्निपथ), सुरभी (घोरराक्षस), सुषमा देशपांडे (व्हम मि सावित्रीबाई), अनुराधा कपूर (जीवित या मृत), त्रिपुरारी शर्मा (बहू), नादिरा जाहीर बब्बर (सकुबाई) इत्यादि। संवेदनाशील निर्देशिकाओं के रूप में इन सभी ने स्त्री जीवन से संबंधित नाटकों का मंचन करवाया है। साथ ही भारतीय रंग परंपरा में चली आ रही पुरुषवादी व्यवस्था को भी तोड़ा है। रंग परंपरा को नया आयाम दिलाने हेतु महिलाओं ने वर्जित दृश्यों का भी मंचन करवाया। वर्जित दृश्यों की परिपाटी में अधिकांशतः महिला समस्याओं की प्रस्तुति में बाधा पहुँचाती थी। उदाहरणस्वरुप मृत्यु, उच्च स्वर में आह्वान करना, रक्तपात, दांत काटना, यौनिकता संबंधित मार्मिक दृश्यों का चित्रण आदि शामिल है। निर्देशिकाओं ने वर्जित दृश्यों की दीवार गिराकर स्त्री जीवन से जुड़ी समस्याओं की प्रस्तुति खुले तौर पर

किया। इन्होंने ऐसे ऐसे नाटकों का मंचन करवाया जिसके केन्द्र में स्त्री समस्याएं उपलब्ध थी। साथ ही जन चेतना को सजग करने और स्त्रियों के प्रति सहानुभूति और सच्ची संवेदना प्रकट करने का प्रयास निरंतर करती रही। स्त्री जीवन की त्रासदी को रेखांकित करते हुए निर्देशिकाओं ने मंच पर उन समस्याओं से निजात पाने की राह भी प्रशस्त किया। भारतीय समाज में स्त्रियों को सही स्थान दिलाने हेतु रंगमंच पर स्त्री विमर्श की शुरुआत इन निर्देशिकाओं के जरिए प्रारम्भ हुआ। इन प्रयोजन के बारे में रवि चतुर्वेदी ने लिखा है। 21वीं सदी महिलाओं के बहुआयामी उभार, जागरुकता और दावेदारी की सदी है। आदिवासियों, दलितों, स्त्रियों और वंचितों की धमक से यह सदी उद्वेलित है और समाज, राजनीति व कला सहित जीवन का कोई भी क्षेत्र इस उभार से अछूत नहीं रह गया है।रंगमंच और नाटकों में भी इस महिला विमर्श का धमक को साफ तौर पर महसूसा जा सकता है।

इस कड़ी में 2024 की सशक्त निर्देशिका प्रो रमा यादव के द्वारा किया गया प्रयोग रंगमंचीय दुनिया में ऐतिहासिक पहल सिद्ध होता हुआ नजर आया है। इन्होंने मोहन राकेश के तीन नाटकों को मिश्रित कर एक अनूठा रंग प्रयोग किया। रमा यादव दिल्ली विश्वविद्यालय के मेरिंडा हाउस कालेज में हिंदी की प्रध्यापिका हैं। प्राध्यापन के साथ इन्होंने नाटक निर्देशन कार्य भी कर रहीं हैं। गिरीश रस्तोगी ने एक नाट्यालेख तैयार किया था। उसी संदर्भ में रंगालेख की प्रस्तुति प्रो रमा यादव ने किया है।

मोहन राकेश आधुनिक हिन्दी रंगमंच के सुप्रसिद्ध नाटककार हैं। उन्होंने तीन नाटक लिखे- 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' और 'आधे-अधूरे'। यूँ उनका एक अपूर्ण नाटक पैर तले की जमीन भी था। जिसे राकेश के मरणोपरान्त कमलेश्वर ने पूरा किया। किन्तु वह अपनी कोई खास पहचान बना नहीं पाया। अपने सशक्त कथ्य और शिल्प के बूते राकेश के तीनों नाटक रंगकर्मियों को गाहे-बगाहे आकर्षित करते रहते हैं। इसी आकर्षण का ताजा उदाहरण है, रमा यादव के निर्देशन में हुई प्रस्तुत मोहन राकेश के तीन नाटक। यह प्रस्तुति अपने आप में अनूठी इसलिए थी कि इसमें राकेश के तीनों नाटकों के चुनिन्दा अंशों के साथ उनके विजन को दर्शाने की कोशिश की गयी। प्रस्तुति गत 23 सितम्बर 2024 को मंडी हाउस स्थित श्रीराम सेन्टर के प्रेक्षागृह में हुई।

मोहन राकेश आजाद हिन्दुस्तान की उस हवा में नाट्य लेखन शुरु करते हैं जिसमें संबंधों में तेजी से बदलाव हो रहा था। आत्ममुग्धता बढ़ रही थी, विज्ञान-तकनीक के अविष्कार, औद्योगिकीकरण, टूटते संयुक्त परिवार, गाँव से शहर की ओर पलायन सब मिलकर इंसान के स्वभाव को बदल रहे थे। संवेदना कुछेक खण्डित अनुभूतियों में तब्दील हो रही थी जिन्हें अभिव्यक्त करने के लिए साहित्य में द्वन्द्व तनाव, अजनबीपन, असंतोष, उलझन जैसे शब्दों का आगमन हुआ। मोहन राकेश समकालीन जीवन और हिन्दी के रंग परिदृश्य दोनों की ही चुनौतियों और समस्याओं से अच्छी तरह परिचित थे। उनके तीनों नाटक नये परिवेश से उपजी नयी और खण्डित अनुभूतियों को सम्पूर्णता में व्यक्त करने का सफल प्रयास करते हैं।

द्वन्द्व राकेश के नाटकों की केन्द्रीय विशेषता है। आषाढ़ का एक दिन कलाकार और राजसत्ता के साथ भावना और यथार्थ का द्वन्द्व दिखलाता है। लहरों के राजहंस में अध्यात्म और भौतिक सुख का द्वन्द्व और चयन न कर पाने की

दुविधा है तो आधे अधूरे में आधुनिक महानगरीय परिवार के सदस्यों में तल्ख और कटु संबंधों से उपजा तनाव है। आषाढ़ का एक दिन और लहरों के राजहंस का देश-काल भले ही कालिदास और महात्मा बुद्ध से जुड़ा हो लेकिन इन दोनों ही नाटकों का कथ्य आधुनिक मनुष्य के जीवन की नियति बन चुका है। रमा यादव के निर्देशन में हुई प्रस्तुति तीनों नाटकों में निहित इसी विविध आयामी द्वन्द्व को पकड़ने की कोशिश करती दिखी। प्रस्तुति की शुरुआत आधे अधूरे की शुरुआत में काले सूट वाले आदमी के वक्तव्य से हुई जो जीवन की अनिश्चितता को रेखांकित करने वाली थी। आधे अधूरे के दृश्यों के लिए आधुनिक घर के ड्राइंग रूम के सेट का प्रयोग किया गया जो कमोवेश मोहन राकेश के रंग निर्देशानुसार ही था। आषाढ़ का एक दिन और लहरों के राजहंस के दृश्यों का परिवेश निर्माण छुट-पुट रंग सामाग्री के साथ रिकार्डिड ध्वनि से हुआ। जिसमे क्रमशः मेघ गर्जन व वर्षा और बुद्धं शरणं गच्छामि काफी प्रभावशाली रहे। मल्लिका, सावित्री, महेन्द्रनाथ, बिन्नी की भूमिकाएं एक से अधिक अभिनेता-अभिनेत्रियों ने की। चरित्र की उम्र और स्वभाव में आये बदलाव के अनुरूप यह रंग युक्ति संतुलित और उपयुक्त रही। मल्लिका के भावना में भावना का वरण, कालिदास को उज्जैनी भेजने के आग्रह, सुन्दरी द्वारा कामोत्सव का आयोजन, नन्दद में अदम्य सुन्दरी-पत्नी और गौतम बुद्ध के प्रति खिंचाव से उपजे द्वंद्व सावित्री के घर छोड़ने का निश्चय, महेन्द्रनाथ और अशोक के साथ हुई बसह, बिन्नी द्वारा उस चीज को ढूढने की व्यर्थ कोशिश वाले दृश्य असरदार बन पड़े। दृश्य नाटकों के अनुसार क्रमवार न होकर आपस में गुंथे-मिले थे। सारा कार्य व्यापार, गतियाँ, मुद्राएं, वेशभूषा, प्रकाश आदि द्वं को ही घनीभूत करते दिखे। मोहन राकेश अपने नाटकों में सुचिंतित रंग निर्देशों के लिए भी जाने जाते हैं। इस प्रस्तुति में आधे अधूरे के कुछ रंग निर्देशों का वाचन करने के साथ उन्हें हरकत की भाषा में तब्दील किया गया। राकेश ने रंगभाषा पर चिंतन करते समय उपयुक्त शब्द के चयन के साथ ही प्रदर्शन में उच्चारण की लय पर काफी बल दिया है, जो अभिनय करने वाले कलाकार के लिए बहुत चुनौतिपूर्ण है। इस प्रस्तुति में कई कलाकार इस चुनौती से जूझते दिखे। डॉ राम यादव के प्रयोगशीलता ने रंगमंच को एक नई जमीन प्रदान की है।

निष्कर्ष-

हिन्दी रंगमंच पर स्त्रियों की भूमिका उच्चतम श्रेणी की मानी गई है। रंगकर्मी के प में महिलाओं ने रूढ़ सामाजिक व्यवस्था से संघर्ष करती हुई स्वयं को रंगमंच पर स्थापित करने का कार्य किया है। स्त्री-पुरुष की जटिल समीकरण रंगकर्म का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। स्त्रियाँ इस समीकरण की बंदिशों को लांगती हुई अपनी प्रतिभा का परिचय दे रही है। रंगकर्म के नित्य नए प्रयोग में महिलाओं का स्थान शीर्ष पर है। निर्देशिकाओं का सफलतापूर्वक नवीन रंग प्रयोग का आयोजन वर्तमान में रंगमंच को समृद्ध बना रहा है। निर्देशिकाओं ने अपने कर्मयोग से रंगमंच को अपनी अलग पहचान बनाती हुई नजर आ रही है। वे न सिर्फ स्त्रियों से संबंधित मुद्दों को प्रस्तुत करती हैं, बल्कि समाज में व्याप्त हरेक छोटे-बड़े मुद्दों को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत कर पूरे मानव समाज को अच्छे से जीवन जीने की संदेश देती है। साथ ही उनमें नई संभावनाओं की तलाश में दर्शकों के लिए उचित स्पेश भी छोड़ रही हैं। अपनी

प्रयोगधर्मिता से महिलाओं ने भारतीय रंगमंच को समृद्ध करने के साथ इसे अंतराष्ट्रीय पहचान दिलाने में भी सफलता हासिल की है। हिंदी रंगमंच में महिला रंगकर्मी का कार्य रंगमंच को अधिक मजबूत और प्रभावोत्पादक बना रही हैं।

संदर्भ ग्रंथ-

1. द्विवेदी, हजारी प्रसाद- हिंदी साहित्य उद्‌भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1952, पृष्ठ संख्या 154
2. ओझा, डॉ मांधाता, सरदाना डॉ शशि नाटक नाटक चिंतन और रंग प्रयोग, कला मंदिर, नई सड़क, दिल्ली 2003, पृष्ठ संख्या 9
3. वेणु, अपर्णा भारतीय रंग मंच की महिला परंपरा, लोक भारतीय प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2023, पृष्ठ संख्या 96
4. रस्तोगी, गिरीश, नाट्य चिंतन और रंग दर्शन, किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 1195
5. चतुर्वेदी, रवि - रंगवार्ता पत्रिका, वर्ष एक, अंक एक, नवंबर-जनवरी 2011-12, पृष्ठ संख्या 29

GOAL द्वारा अखिल भारतीय कवि सम्मेलन एवं पुस्तक विमोचन का आयोजन

आंबेडकरवादी विद्वज्जनों का विशुद्ध संगठन GOAL के तत्वावधान में दिनांक 9 जून 2024 को रोहिल्ला होटल, बरेली में अखिल भारतीय कवि सम्मेलन एवं पुस्तक विमोचन का आयोजन किया गया। इस कार्यक्रम में GOAL के संरक्षक एवं वरिष्ठ साहित्यकार आदरणीय श्यामलाल राही जी की पाँच पुस्तकों का विमोचन किया गया। साथ ही, भारत के विभिन्न स्थानों से आये हुए कवियों द्वारा काव्यपाठ भी किया गया। कार्यक्रम में मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित रहे सुप्रसिद्ध आंबेडकरवादी साहित्यकार एवं समालोचक माननीय ईशकुमार गंगानिया जी। कार्यक्रम की अध्यक्षता GOAL के वर्तमान अध्यक्ष एवं वरिष्ठ आंबेडकरवादी साहित्यकार डॉ. राम मनोहर राव जी ने किया तथा कार्यक्रम का संचालन GOAL के महासचिव देवचंद्र भारती 'प्रखर' ने किया।

आयोजित कार्यक्रम का विषय था - कविता, कवि सम्मेलन और आंबेडकरवाद। मुख्य अतिथि माननीय ईशकुमार गंगानिया जी ने अपने वक्तव्य में आंबेडकरवादी कविता के स्वरुप को स्पष्ट करते हुए उसकी विशेषताओं का विवेचन किया। विशिष्ट अतिथि के रूप में उपस्थित आदरणीय कर्मशील भारती जी ने आंबेडकरवादी कविता के सामाजिक यथार्थ एवं क्रांतिकारी उद्देश्य को स्पष्ट किया तथा स्वरचित कविताओं का सस्वर वाचन किया।

इस कार्यक्रम में GOAL के उपाध्यक्ष डॉ. रमेश कुमार जी एवं उनकी पत्नी, GOAL के सदस्य इतेश कुमार जी एवं उनकी पत्नी, GOAL के पूर्व उपाध्यक्ष एवं सदस्य मनोहर लाल प्रेमी जी, GOAL के अध्यक्ष की पत्नी एवं पुत्री साहित अन्य सम्मानित प्रबुद्धजन एवं साहित्यकार उपस्थित रहे।

'आंबेडकरवादी साहित्य'
पत्रिका के मंडल प्रतिनिधिगण

रुपचंद गौतम, दिल्ली, 9868414275
कर्मशील भारती, दिल्ली, 9968297866
विजय छाण, राजस्थान, 9983272626
प्रबुद्धनारायण बौद्ध, चन्दौली, उ.प्र., 9005441713
विजय कुमार, चन्दौली, उ.प्र., 9198371768
नीरज कुमार नेचुरल, जौनपुर, उ.प्र., 8318543949
मुन्ना कुमार, जौनपुर, उ.प्र., 7075751143
लोकेश आजाद, इटावा, उ.प्र., 8847398166
पप्पूराम सहाय, झाँसी, उ.प्र., 6393572259
पिंटू कुमार गौतम, गाजीपुर, उ.प्र., 8543901668

आगामी अंक

अक्टूबर-दिसम्बर 2024

उक्त अंक हेतु आलेख, शोध-पत्र, पुस्तक समीक्षा, संस्मरण, साक्षात्कार आदि आमंत्रित हैं।

'आंबेडकरवादी साहित्य'
पत्रिका की सदस्यता हेतु विवरण

सदस्यता शुल्क :

वार्षिक : 350/-
त्रैवार्षिक : 1000/-
द्विवार्षिक : 650/-
आजीवन : 7000/-

भुगतान विकल्प :

Bank Account Number : 35332395763
Account Holder : Devachandra Bharati
Bank Name : STATE BANK OF INDIA
IFSC Code : SBIN0012302
paytm PhonePe G Pay : 9454199538

आंबेडकरवादी विद्वज्जनों का विशुद्ध संगठन

Genuine Organization of Ambedkarite Literati - GOAL

प्रधान कार्यालय :- 308, आंबेडकर चौक, मुनिरका, दिल्ली 110067

संस्था का उद्देश्य :-

(1) 'आंबेडकरवादी साहित्य' पत्रिका को नियमित रुप से प्रकाशित करना एवं प्रत्येक वर्ष 'आंबेडकरवादी साहित्य सम्मान' प्रदान करना।

(2) समाज, साहित्य, संगीत, शिक्षा, संस्कृति, राष्ट्र एवं विज्ञान संबंधी समसामयिक विषयों पर गोष्ठी/संगोष्ठी अथवा जनसभा का आयोजन करना।

(3) तथागत बुद्ध और डॉ. भीमराव आंबेडकर के सम्यक दर्शन का प्रचार-प्रसार करना।

(4) कला एवं तकनीकी शिक्षण संस्थान खोलना तथा पुस्तकालय की स्थापना व संचालन करना।

(5) सामान्य ज्ञान, निबंध एवं चित्रकला आदि की प्रतियोगिता का आयोजन करना।

संस्था की सदस्यता :- संस्था में निम्नलिखित श्रेणी के सदस्य होंगे -

(क) संरक्षक सदस्य - जो व्यक्ति संस्था को दान के रुप में रुपए 40000/- या अधिक एकमुश्त देगा अथवा एक साल में बारह किस्तों में देगा, वह संस्था का संरक्षक सदस्य होगा। संरक्षक सदस्यों का समूह संरक्षक-मंडल कहा जाएगा तथा संरक्षक-मंडल का एक अध्यक्ष होगा।

(ख) आजीवन सदस्य - जो व्यक्ति संस्था को दान के रुप में रुपये 24000/- या अधिक एकमुश्त देगा अथवा एक साल में बारह किस्तों में देगा, वह संस्था का आजीवन सदस्य बन सकेगा। कोई भी आजीवन सदस्य रुपये 16000/- या अधिक देकर संरक्षक बन सकता है। प्रबंधकारिणी के समस्त पदाधिकारियों को आजीवन सदस्य बनना अनिवार्य होगा।

(ग) साधारण सदस्य - जो व्यक्ति रुपये 1200/- प्रतिवर्ष संस्था को चंदे के रुप में देगा, वह साधारण सदस्य होगा। जो साधारण सदस्य वार्षिक चंदा नहीं देगा, उसकी सदस्यता समाप्त हो जाएगी। पुन निर्धारित धनराशि का भुगतान करने के पश्चात ही सदस्यता का नवीनीकरण किया जाएगा।

सदस्यता की प्राप्ति :- प्रत्येक व्यक्ति, जो संस्था का सदस्य बनने का इच्छुक हो, उसे लिखित रुप में आवेदन करना होगा। ऐसा आवेदन-पत्र प्रबंधकारिणी समिति के समक्ष प्रस्तुत होगा, जिसे आवेदन-पत्र स्वीकार करने या अमान्य करने का अधिकार होगा।

सदस्यता हेतु पात्रता :- (क) आयु 18 वर्ष से कम न हो। (ख) भारतीय नागरिक हो।
(ग) सद्चरित्र हो तथा मद्यपान न करता/करती हो। (घ) आंबेडकरवादी/बौद्ध हो।
(ङ) संस्था के नियमों का पालन करने की प्रतिज्ञा ली हो।

सम्यक दृष्टि सही उद्देश्य सार्थक कार्य

Genuine Organization of Ambedkarite Literati - GOAL

आंबेडकरवादी विद्वज्जनों का विशुद्ध संगठन

प्रधान कार्यालय - 308, आंबेडकर चौक, मुनिरका, नई दिल्ली- 110067

संरक्षकगण - डॉ0 नविला सत्यादास (पंजाब), श्यामलाल राही (बरेली, उत्तर प्रदेश)

अध्यक्ष	उपाध्यक्ष	महासचिव	कोषाध्यक्ष
डॉ0 राम मनोहर राव (बरेली, उत्तर प्रदेश)	**डॉ0 रमेश कुमार** (अहमदाबाद, गुजरात)	**देवचंद्र भारती 'प्रखर'** (चंदौली, उत्तर प्रदेश)	**डॉ0 सुरेश सौरभ गाजीपुरी** (गाजीपुर, उत्तर प्रदेश)

सह-सचिव	कानूनी सलाहकार	लेखा परीक्षक
सुरेश कुमार राजा (बाँदा, उत्तर प्रदेश)	**रघुबीर सिंह 'नाहर'** (अलवर, राजस्थान)	**अश्वनी कुमार** (लखनऊ, उत्तर प्रदेश)

सदस्यगण - डॉ0 बी.आर.बुद्धप्रिय (बरेली, उत्तर प्रदेश), डॉ0 मुकुंद रविदास (झारखण्ड), डॉ0 परसराम रामजी रगडे (महाराष्ट्र), भिक्खु संघविजय (बिहार), मनोहर लाल प्रेमी (लखनऊ, उत्तर प्रदेश), राधेश प्रताप 'विकास' (इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश), कर्मशील भारती (दिल्ली), अभय प्रताप सिंह (दिल्ली), पिंटू कुमार गौतम (गाजीपुर, उत्तर प्रदेश), कैप्टन लाल बिहारी प्रसाद (कुशीनगर, उत्तर प्रदेश), भीमराव गणवीर (महाराष्ट्र), डॉ0 पप्पू राम सहाय (झाँसी, उत्तर प्रदेश), राजाराम वर्मा (गौतम बुद्ध नगर, उत्तर प्रदेश)

सम्पर्क सूत्र- 9454199538, 9452846472 • E-mail : genuineorganization@gmail.com